



ध्यान दें:

23

साधना-3

अधिकारी विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इस प्रकार से चार प्रकार के अनुबन्ध होते हैं। उनमें अनुबन्ध के अधिकारी के विषयों का आलोचन किया जाता है वो हैं 1) वेदाध्ययनम् 2) काम्यनिषिद्धवर्जनम् 3) नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तानाम् अनुष्ठानम् 4) उपासना 5) साधनचतुष्टयम्।

इसमें उपासना पर्यन्त विषय पूर्व दो पाठों में प्रतिपादित किए गये हैं। साधनचतुष्टय केवल अवशिष्ट है जिसे इस पाठ में उपस्थापित करके अवशिष्ट तीन अनुबन्ध, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन के विषय में भी बताया जाएगा। उसके बाद श्रवण मनन निदिध्यासनादि के विषय में भी कहा जाएगा। इस प्रकार से यह पाठ गतपाठ का ही शेष अंश है।



उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- साधनचतुष्टय के विषय में जानने में;
- विषय सम्बन्ध तथा प्रयोजन इन अवशिष्ट अनुबन्धों के विषय में जानने में;
- अधिकारी को कब गुरु के पास जाना चाहिए, इसका निर्धारण करने में;
- श्रवणमनन तथा निदिध्यासनादि को जानने में;
- श्रवण के द्वारा तात्पर्यग्रहण करने के लिए आवश्यक लिङ्गों को जानने में;

23.1) साधनचतुष्टय

मोक्ष में अधिकार की प्राप्ति हेतु साधन चतुष्ट का अनुष्ठान करना चाहिए। वे साधन चतुष्टय है।

1. नित्यानित्यवस्तुविवेक
2. इहामुत्रार्थभोगविराग
3. शमदमादि षट्क सम्पत्ति
4. मुमुक्षुत्व।

ये जो साधन यहाँ पर दिए गए हैं। उनको एक एक करके नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।



ध्यान दें:

23.2) विवेक

नित्यानित्यवस्तुविवेकः अत्र विवेकः। नित्य तथा अनित्य इस प्रकार से दो प्रकार की वस्तु संसार में होती है। उन दोनों में विवेक का विवेचन करना कि कौन-सी वस्तु नित्य है, तथा कौन-सी वस्तु अनित्य है इस प्रकार से विचारपूर्वकज्ञान ही नित्यानित्यवस्तु विवेक कहलाता है। उसे वेदान्तसार में इस प्रकार से कहा गया है।

नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावत् ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमिति विवेचनम् इति।

ब्रह्म ही केवल नित्य वस्तु है, उससे भिन्न अखिल आकाशादिप्रपञ्च अनित्य है इस प्रकार का विचार पूर्वक ज्ञान। नित्य वस्तु किसे कहते हैं जो तीनों कालों में होती है वह नित्य वस्तु कहलाती है। भूतकाल में भी थी। वर्तमान में भी है। तथा भविष्य में भी होगी वह वस्तु नित्य कहलाती है। त्रिकालबाध्यत्वं नित्यत्वम्। जो तीनों कालों में होती है वह नित्यवस्तु होती है उस प्रकार का तो केवल ब्रह्म ही है।

ब्रह्म ही नित्यवस्तु है इस प्रकार से यहाँ पर यह प्रमाण है। “अजो नित्यः शाश्वतः” (कठोपनिषद् 1.2.18), “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म” (तै.उ. 2.1) इत्यादि श्रुतियों में। ब्रह्मभिन्न अन्य सब अनित्य होते हैं पूर्व में नहीं थे अभी भी नहीं है तथा भविष्य में भी नहीं होंगे। इस प्रकार से वो तीनों कालों में नहीं होते हैं। अतः उन्हें अनित्यवस्तु भी कहते हैं। त्रिकालबाध्य वस्तु नित्य कहलाती है। नित्य वस्तु भी दो प्रकार की होती है। कूटस्थ नित्य तथा प्रवाह नित्य। ब्रह्म तो कूटस्थ नित्य होता है। ब्रह्म से भिन्न सभी का अनित्यत्व के विषय में “नेह नानास्ति किञ्चन” (बृ.उ.4.4.19), ‘एकमेवाद्वितीयम्’ (छा.उ. 6.2.1), “अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्” (छा.उ. 7.24.1)। इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण भूत है। नित्य वस्तु का तथा अनित्य वस्तु का अलग करना ही नित्यानित्यवस्तु विवेक कहलाता है।

अब कहते हैं कि ब्रह्म ही नित्य है, अन्य अखिल अनित्य है यह विवेचन यदि निश्चय है तो एक प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। इस निश्चय से तो श्रवणादि साधन भी व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं क्योंकि यदि संशय होता है तो संशयात्मक ज्ञान से वैराग्यादि उत्पन्न ही नहीं होगा। विवेक वैराग्य के प्रति कारण होता है यह सिद्धान्त है। किस प्रकार का ज्ञान होता है तो कहते हैं कि अनुमानिक ज्ञान। वह अनुमान कृतत्व तथा अकृतत्व से अनित्य होता है। जो नित्य होता है उसका उसको कुछ भी अधिष्ठान होना ही चाहिए। बिना अधिष्ठान के अनित्य सम्भव नहीं होता है। इस रूप से तो आलोचनात्मक प्रत्ययविशेष ही विवेक पद के द्वारा वाच्य है। इस प्रकार का विवेक करने पर तो ऐहिक तथा आमुष्मिकों से विराग सम्भव होता है। इसलिए विवेक चूडामणि में भी कहा है। -

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।

सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः॥ इति

ब्रह्म सत्य है तथा जगत् मिथ्या है इस प्रकार का जो विनिश्चय निर्धारण है वह ही यह नित्यानित्यवस्तुविवेक कहा गया है।

नित्य अनित्य वस्तु विवेक जब होता है तब ही द्वितीय इहामुत्रफलभोगविराग में यत्न फलवान होता है। और विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है।

23.3) वैराग्य

इहामुत्रफलभोगविराग यहाँ पर वैराग्य पद का अर्थ है। इस लोक में तथा उस स्वर्ग लोक में

कर्मजन्य जो फल प्राप्त होते हैं उनके भोग से विरक्ति तथा आसक्ति का अभाव ही इहामुत्रफलभोगविराग कहलाता है। इसलिए वेदान्तसार में कहा गया है

**ऐहिकानां स्रक्-चन्दनवनितादिविषयभोगानाम् अनित्यत्ववद् आमुष्मिकाणाम् अपि
अमृतादिविषयभोगानाम् अनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिः इहामुत्रफलभोगविरागः इति।
(वेदान्तसारः)**

इस लोक में होने वाले को ऐहिक कहते हैं। जैसे स्रक् चन्दन स्त्री घर इत्यादि विषय इस लोक में होते हैं। अर्थात् इस लोक में उत्पन्न होते हैं। इसलिए ये विषय ऐहिक कहलाते हैं। इन विषयों को भोगने से ही जन्तु आत्मा को सुखी मानता है। लेकिन ऐहिक वस्तुओं से जो सुख उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है। क्योंकि विषय अनित्य होते हैं। इसलिए उनसे उत्पन्न सुख ही अनित्य ही होता है। इसी प्रकार उस परलोक में प्राप्त होने स्वर्गादि सुखों का अमृतादि विषय भोगों का भी अनित्यत्व होता है। वहाँ प्रमाण है।

**तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। (छा.उ.1.8.16)
इत्यादयः श्रुतयः।**

कर्म के द्वारा चित्त पृथ्वी लोक के भोगों को भोगने से पुण्य क्षीण होते हैं। उसी प्रकार से स्वर्ग लोक भोगों को भोगने से भी स्वर्ग लोक के पुण्यक्षीण होते हैं। “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति” इस प्रकार से यह गीता का वचन भी प्रमाण है। इसलिए लौकिक सुख तथा स्वर्ग का सुख दोनों ही अनित्य है। इसलिए उन दोनों से हमेशा विरक्ति अत्यन्तविमुखता इहामुत्रफलभोगविराग कहलाता है। इसलिए विवेकचूडामणी में कहा गया है-

**तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि॥ (वि.चू.21)**

अपने देह से लेकर के ब्रह्मलोक पर्यन्त भोग्यवस्तुओं के दर्शन से तथा श्रवण से जो घृणा होती है वह वैराग्य कहलाता है। अर्थात् मनुष्य शरीर अनित्य है इस प्रकार से सभी जानते हैं। ब्रह्मलोक अत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्य तथा दुष्प्राप्य होता है। इस प्रकार से विशिष्टपुण्य कर्म के द्वारा पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। भले ही वहाँ निवास दीर्घकाल पर्यन्त तक होता है फिर भी वह लोक नित्य नहीं है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बाद भी सुख का अवसान होता है। जिसे स्मृतियों में इस प्रकार से कहा है

**आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥**

ब्रह्मलोक से लेकर के इस पृथ्वी तक जितने भी लोक हैं वे सभी पुनरावर्ति वाले हैं अर्थात् पुनरावर्ति स्वभाव वाले हैं। हे अर्जुन केवल मुझे ही प्राप्त करने के बाद ही फिर से उत्पत्ति नहीं होती है।

कुछ वस्तुओं को देखकर के यह अनित्य है इस प्रकार से जाना जाता है तथा कुछ वस्तुओं के आप्त जनों से सुनकर के ही उसकी अनित्यता के विषय में जाना जाता है। दोनों प्रकार से भोग्यवस्तुओं के अनित्यत्व के ज्ञान से उन अनित्यों में जो घृणा होती है। वह वैराग्य कहलाता है।

भोग्य विषय दो प्रकार के होते हैं। दृष्ट तथा आनुश्रविकादृष्ट ऐहिक अर्थात् इस मृत्युलोक में उपलभ्य विषय होते हैं। आनुश्रविक अर्थात् श्रुतियों के माध्यम से ज्ञात पारलौकिक, आमुष्मिक तथा वेदादि विहित कर्म के द्वारा लभ्य होते हैं। उन विषयों में भोगेच्छा का अभाव ही वैराग्य कहलाता है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:



पाठगत प्रश्न 23.1

1. वेदान्त में अधिकारी का विवेक क्या होता है?
2. वेदान्त में अधिकारी का वैराग्य क्या होता है?
3. स्वर्ग फल नित्य होता है अथवा अनित्य प्रमाण सहित बताइए?

23.4) शमादिषट्कसम्पत्ति

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान ये छः शमादि षट् सम्पत्ति होती है। साधनचतुष्टय में यह तीसरा साधन है। इससे पहले विवेक तथा वैराग्य दो साधनों का वर्णन किया जा चुका है। अब हम शमादि का क्रम से उपस्थान कर रहे हैं।

सम्पत्ति क्या होती है? आत्मभाव के अनुरूप ही सम्पत्ति होती है। अनुरूप से तात्पर्य है योग्य। तथा आत्मभाव से तात्पर्य है आत्मा का स्वयं का भाव। जैसे कोई क्षत्रियकुलोत्पन्न व्यक्ति अगर युद्धादि कर्मों से डरता है तो उसमें पर्याप्त क्षत्रियत्व भाव नहीं होता है। भले ही कुछ होता है फिर भी जो परिमाण सामान्य क्षत्रिय में होना चाहिए वह उसमें अभिप्रेत नहीं होता है। अर्थात् उसमें क्षत्रियत्व की सम्पत्ति नहीं है इस प्रकार से कह सकते हैं। क्षत्रियत्व भाव से तात्पर्य है की उस व्यक्ति में पर्याप्त क्षत्रियत्व होना चाहिए। नहीं तो वह क्षत्रियपद वाच्य नहीं होता है। फिर उसे क्षत्रिय नहीं कह सकते हैं। अर्थात् उस व्यक्ति में क्षत्रियपद का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है।

इस प्रकरण में शमादि छः सम्पत्तियाँ अभीष्ट हैं। अर्थात् शमादि के अनुष्ठान से गुण आस्वादीय होते हैं। उनकी भी विशिष्ट मात्रा अभीष्ट होती है। यदि उतनी मात्रा होती है तो वह मोक्ष के लिए पर्याप्त होती है। तब उस मात्रा को ही सम्पत्ति कह सकते हैं।

23.4.1) शम

“शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यः मनसः निग्रहः” इस प्रकार से वेदान्तसार में कहा गया है। वस्तुतः मन का निग्रह ही शम कहलाता है। वेदान्ततत्व के श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। जिस वृत्ति विशेष से आत्मविषयक श्रवणादिभिन्न विषयों से बल पूर्वक मन का निग्रह होता है शम होता है। यदि सम्पूर्ण मन का निग्रह सभी विषयों से हो जाए तो वेदान्त श्रवण भी नहीं हो। इसलिए यहाँ पर श्रवणादिव्यतिरिक्त विषय कहा गया है। इसका फलितार्थ यह हुआ की श्रवणादि विषयों को छोड़कर के अन्य विषयों से मन का निग्रह करना चाहिए। जीव का चित्त अतिशय चपल होता है। वह एक ही विषय में दीर्घकाल तक नहीं रुकता है। भूखे की जिस प्रकार से भोजन की प्रति अभिरुचि होती है। वैसे ही वैराग्ययुक्त पुरुष का मन अभिरुचि सम्पन्न होने से होने पर भी पूर्वसंस्कारवश विक्षिप्त भी हो जाता है। उस दशा में जिस वृत्ति विशेष के द्वारा पार्थिव सुख अनित्य हैं तथा परिणाम में दुःख जनक है। ऐसा विचार करके बलपूर्वक विषयों से जो हटाता है वह शम कहलाता है। विवेक चूडामणी में भी कहा है कि-

विरज्य विषयव्राताद् दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।

स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते॥ (वि.चू.22)

बार-बार हर क्षण दोष दृष्टि के द्वारा दोष देखकर के विषयों से तथा विषयों के समूहों से वैराग्यप्राप्ति करके मन को अपने लक्ष्य ब्रह्मतत्वनियतावस्था में निश्चल रूप से लगाना शम कहलाता है।

23.4.2.) दमः

“दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्रूपतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्” वेदान्त सार में दम की यह परिभाषा दी गई है। बाह्येन्द्रियों से चक्षु कर्म नासिका जिह्वा त्वचा इन सभी को इनके विषयों से हटाना। अर्थात् आखों को रूप से, कानों को शब्द से, नासिका को गन्ध से, जिह्वा को रस से, त्वचा को स्पर्श से जिस वृत्ति विशेष के द्वारा हटाया जाता है वह वृत्तिविशेष दम कहलाती है। यदि सम्पूर्ण रूप से इन्द्रियाँ निवृत्त हो जाए तो वेदान्तश्रवणादि कार्य भी नहीं हो सकेंगे। इसलिए यहाँ पर तद्रूपतिरिक्तविषयः कहा गया है। अर्थात् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयों को छोड़कर अन्यो से इन्द्रियों का निवर्तन करना चाहिए।

सबसे पहले अन्तरिन्द्रिय का निग्रह करना चाहिए। उसके बाद बाह्येन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए। इसलिए सबसे पहले शम का निर्देश किया गया है। उस के बाद दम का निर्देश किया गया है। यदि मन वश में होता है तो चक्षु आदि इन्द्रियों का निग्रह सम्भव हो जाता है। मन ही सङ्कल्पवश चक्षु आदि इन्द्रियों के विषयों की ओर दोड़ता है। वह इस प्रकार से कोई भी पुरुष किसी भी विषय में मन का नियोग करता है। तब उसके सामने रूप आता है तो भी वह उसे नहीं देखता है। सुगीत होता है तो भी वह उसे नहीं सुनता है। इसलिए यदि मन का निग्रह हो जाए तो बाह्येन्द्रियों का अपने आप निग्रह हो जाता है। लेकिन संस्कारवश मन विक्षिप्त होता है। इसलिए यत्न करना चाहिए। विवेकचूडामणि में दम के विषय में इस प्रकार से कहा है कि-

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके।

उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः॥ इति (23)

सरलार्थ दोनों प्रकार की इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से हटाकर के परिवर्तित करके अपने अपने स्थान में ही स्थित करके निश्चल रूप से उनकी रक्षा करनी चाहिए। वह ही दम परिकीर्तित कहलाता है।

शमदमवान पुरुष ही स्थित प्रज्ञ होता है इस प्रकार से भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है

यदा संहरते चायं कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ इति (2.58)

जब यह कछुए की तरह सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटा लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। अर्थात् इन्द्रियाँ हमेशा शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होती है। कछुआ जैसे भय से अपने अङ्गो का संकोच करता है उसी प्रकार से यह ज्ञान निष्ठा में प्रवृत्त व्यक्ति भी सभी इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से संकोच करते हैं। उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित कहलाती है। और वह ही स्थित प्रज्ञ होता है।

23.4.3) उपरति

वेदान्तसार में उपरति के दो लक्षण बताए गए हैं - “निवर्तितानाम् एतेषां तद्रूपतिरिक्तविषयेभ्यः उपरमणम् उपरतिः” अथवा “विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः” इति।

मन के केवल बाह्य इन्द्रियों से निग्रह करने पर ही वह तत्त्वज्ञान के मार्ग की ओर उन्मुक्त नहीं होता है। पहले की वासना के कारण से वह फिर चञ्चल हो जाता है। इसलिए निवर्तित बाह्येन्द्रियवाले मन से श्रवणादिव्यतिरिक्त विषयों में बार बार दोषदर्शन करने से जो उपरमण निवृत्ति होती है वह ही उपरति कहलाती है।

उपरति का दूसरा अर्थ भी शास्त्रज्ञों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक



ध्यान दें:



ध्यान दें:

प्रायश्चित्त कर्मों का विधिपूर्व परित्याग ही उपरति होती है। इस प्रकार से यह दूसरा अर्थ है। विवेक चूडामणी में कहा गया है कि- “बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा” इति। अर्थात् वृत्ति मन की विषय प्रकाशक शक्ति होती है उसे बाह्य आलम्बनों से रहित होना तथा बाह्य अनात्म वस्तु के परिणाम भाव के कारण उनसे उपरति करना की उत्तम उपरति कहलाती है।

23.4.4) तितिक्षा

तितिक्षा “तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता” इस प्रकार से कही गयी है। अर्थात् शीतोष्ण से लेकर परस्पर विरुद्धद्वन्द्वों को तथा उनसे उत्पन्न सुख दुःखादि को सहना तितिक्षा होती है। सभी जीव सुख के द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं। आनन्द के द्वारा प्रमाद नहीं होता है। लेकिन दुःख का सहन सभी नहीं कर सकते हैं। इसलिए दुःख के कारणों से बहुत से लोग प्रमाद करते हैं। लेकिन जो तितिक्षा का अभ्यास करता है। उसके समीप में सुख तथा दुःख दोनों ही समान होते हैं। वह सुख द्वारा अत्यधिक आनन्द का अनुभव नहीं करता है, तथा दुःख से भी अत्यधिक दुःखी नहीं होता है। इसलिए वह अप्रमादी तथा धैर्यवान होकर के साधनों से अविचलित नहीं होता है। जिस विवेक चूडामणी में इस प्रकार से कहा है

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।

चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥ (वि.चू.)

सभी प्रकार के दुःखों की चिन्ता तथा विलाप को त्यागकर उसका अप्रतिकार कर पूर्व उसका प्रतिकार नहीं करके सहन तथा उसे स्वीकार करना ही तितिक्षा कहलाती है।

वस्तुतः शम, दम, तथा उपरति के द्वारा बाह्यविषयों से निवृत्ति होती है। लेकिन तितिक्षा में तो अन्तर्विषयों से चित्त का निवर्तन होता है। इस प्रकार से इनमें यह भेद होता है।

शमादि के ज्ञान के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार से कोई एक चञ्चल बालक इधर से उधर दोड़ता है। वह कही दूर चला जाता है तो माता उसको अपने पास ले आती है। फिर वह अन्यत्र दोड़ता है, चला जाता है। तब फिर उसे पकड़कर के माता उसे अपने पास में ले आती है। इस प्रकार से बार-बार शिशु को लाना दमन या दम कहलाता है।

जब वह बालक जाने के लिए तैयार होता है तो तब ही माता उसे जाने से रोकती है। कुछ दूर जाने पर विपदा से डराती है, समझाती है। माता के उस प्रकार के वचनों से बार बार निगृहित शिशु फिर अपने स्थान से दूर नहीं जाता है। लेकिन जब वह जाने के लिए तैयार होता है तो माता उसे हमेशा समझाती है। इस प्रकार से इतना करने पर भी गमन की सम्भावना होती है। ऐसा होने पर जो जाने से विरति होती है वह शम कहलाता है।

बालक चला गया तो उसे ले आया गया। उसकी गमन क्रिया रोक दी गई। अब माता उसे समझाती है जिससे बालक की जाने की सम्भावना ही नहीं होती है। जाने की प्रवृत्ति ही रुक जाती है। जिस लिए बालक जाता है अथवा जाने की इच्छा करता है वह उस बालक को अब अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार से इसे उपरति कह सकते हैं।

जब बालक के अनुकूल तथा प्रतिकूल आघात होते हैं तब वह विचलित नहीं होता है यह उसकी तितिक्षा होती है।

इस प्रकार से चित्त की विविध प्रकार की अवस्थाएँ वृत्ति विशेष शमदमोपरतितितिक्षा शब्दों के द्वारा कही गयी है।

23.4.5) श्रद्धा

केवल श्रवणादि के माध्यम से ही साक्षात्कार नहीं होता है। श्रवणादि तो श्रद्धा पूर्वक करना ही चाहिए। श्रद्धा किसे कहते हैं तो कहते हैं की- “गुरुपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा”। गुरु के वचनों में तथा गुरुपदिष्टशास्त्रवचनों में दृढतर विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है। आत्मतत्त्वजिज्ञासु की श्रद्धा ही उसकी साधना का मेरुदण्ड होती है। श्रद्धा के नहीं होने पर तो सौ उपदेश भी होने पर भी अर्थ का निर्धारण नहीं होगा। इसलिए आत्मजिज्ञासु को श्रद्धा का अवलम्बन अनिवार्य है। विवेकचूडामणि में इस प्रकार से कहा गया है। - शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम्।

सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्भयया वस्तुपलभ्यते॥ (वि.चू.)

गुरुवाक्य अर्थात् गुरु के द्वारा उपदिष्ट वाक्य की तथा शास्त्रवाक्य अर्थात् वेदान्त के द्वारा उपदिष्ट वाक्य की श्रद्धा, सत्यबुद्ध्यवधारण अर्थात् सत्यता के द्वारा ग्रहण करना। अर्थात् गुरुपदिष्ट शास्त्रवाक्यों को सत्यता के द्वारा ग्रहण करने में जिसके द्वारा आत्मवस्तु उपलब्ध होती है। वह श्रद्धा कहलाती है इस प्रकार से सभी ने कहा है।

श्रद्धा तथा विश्वास में क्या भेद है। दृढतर विश्वास ही श्रद्धा होती है। जैसे कोई प्यासे से कहता है की समीपस्थ कुएँ में जल है तथा कुछ परिश्रम करने पर वह प्राप्त भी हो सकता है। यह सुनकर के यदि वह कुएँ के पास चला जाए तो उसके इस विश्वास को श्रद्धा कह सकते हैं। जैसे विश्वास होता है उसी प्रकार से प्रवृत्ति होती है तो वह विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है। विश्वास में तथा श्रद्धा में विषय का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। अनुमान के द्वारा तथा शब्द प्रमाण के द्वारा ही वह जाना जा सकता है। जैसे स्वर्गकामो यजेत्। इस वेद वाक्य को जानकर के कोई स्वर्ग प्राप्ति सुख का इच्छुक यज्ञ आदि करता है तो वहाँ पर जो यज्ञ करता है उसकी वेद में श्रद्धा होती है। जो केवल वेद प्रमाण्य को स्वीकार करता है लेकिन वेदोक्तप्रकार से आचरण नहीं करता है उसका वेद में केवल विश्वास होता है लेकिन श्रद्धा नहीं होती है। इसलिए यह कह सकते हैं की जो प्रवृत्ति जनक विश्वास होता है वह ही श्रद्धा होता है।

23.4.6) समाधान

“निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्।” अर्थात् विषयों से प्रत्याहृत चित्त का आत्मा के विषय में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में उसके अनुगुणविषय गुरुशुश्रुषा आदि में अवस्थान ही समाधान होता है। इस दशा में ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिए जिससे समाधान का नाश हो। विवेक चूडामणी में कहा गया है।

सम्यगास्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।

तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्॥ (वि.चू.)

शुद्धनिर्गुण ब्रह्म में ब्रह्म विषयक तत्त्व ज्ञान होने पर बुद्धि का चित्त का अच्छी प्रकार से यथार्तता से स्थापन स्थिरीकरण करना ही समाधान कहलाता है। केवल चित्त का लालन तथा कौतुहल से वेदान्तत्व के आलोचन से मन का तृप्ति लाभ समाधान नहीं होता है।

यहाँ पर जो समाधान कहा गया है। वह चित्तवृत्तिनिरोधरूप नहीं होता है। यदि यहाँ पर ही चित्तवृत्तिनिरोध हो तो साधनचतुष्टयसम्पन्न गुरु के पास में नहीं जाए। श्रवणादि भी नहीं करे। निरोध होने पर तो इनकी आवश्यकता ही नहीं होती है। इसलिए वेदान्त के श्रवणादि में तदनुकूलविषयों का हमेशा चिन्तन ही यहाँ पर समाधान कहा गया है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:

23.5) मुमुक्षुत्व

जो मुक्त होने की इच्छा करता है वह मुमुक्षु कहलाता है। उसका भाव मुमुक्षुत्व होता है। मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्षेच्छा। मुमुक्षुता के उदय होने पर मोक्ष के उपायों की जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है। वह ब्रह्म की जिज्ञासा करता है। ब्रह्मजिज्ञासा किसको होती है? कहते हैं की संसार के विषय साध्यसाधनादिभेदलक्षणों से अविरक्त का आत्मरूपी एकतत्त्व के विषय में ज्ञान का अधिकार नहीं होता है। जैसे पिपासा रहित का पीने में।

मुमुक्षुत्व का अर्थ मोक्ष की इच्छा होती है। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यह ही एक प्रधान साधन होता है। यदि पुरुष की मोक्ष प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है तो वह मोक्ष के उपायों का अन्वेषण नहीं करता है। जिससे आत्म दर्शन भी नहीं करता है। उसके द्वारा आत्मदर्शन, मोक्ष का मार्ग, वेदान्त तत्व का श्रवण मनन तथा निदिध्यासन और आत्म दर्शन में कारणादि को नहीं जाना जा सकता है। इसलिए वेदान्त में उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है। उसके द्वारा वेदान्त वैद्यक आत्म का ज्ञान भी नहीं होता है। इसलिए अधिकारी को मोक्ष के विषय में इच्छा अवश्य करनी चाहिए। विवेक चूडामणि में शङ्कराचार्य के द्वारा कहा गया है-

अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान्।

स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता॥ (वि.चू)

अहंकारादि सूक्ष्म तत्व से आरम्भ करके स्थूल देह पर्यन्त तक एवं अज्ञान से उत्पन्न बन्धन तथा बन्धन समूहों की स्वस्वरूप अवबोध से तथा आत्मज्ञान के बोध से जो मुक्ति की इच्छा होती है वह मुमुक्षुता कहलाती है।

साधनचतुष्टय में कार्यकारणभाव

इस प्रकार से साधनचतुष्टय का निरूपण किया गया है। जब तक नित्य तथा अनित्य वस्तु विवेक नहीं होता है। तब तक अनित्यवस्तु में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता है। वैराग्य से बना शमादि की प्रतिष्ठा भी सम्भव नहीं होती है। तथा शमादि के अभाव में मोक्ष विषयणी इच्छा भी सम्भव नहीं है। मोक्ष की इच्छा के बिना ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा भी नहीं होती है। इसलिए सबसे पहले नित्यानित्यवस्तु विवेक उसके बाद इहामुत्रफलभोगविराग तथा उसके बाद शमादिषटक सम्पत्ति तथा उसके बाद मुमुक्षुत्व इनका उल्लेख किया गया है।



पाठगत प्रश्न 23.2

4. शमादिषटक सम्पत्ति में शमा दिषटक् क्या होता है?
5. शमादिषटक सम्पत्ति में सम्पत्ति पद का क्या अर्थ होता है?
6. शम कौन कहलाता है तथा किस का शम किया जाता है?
7. दम कौन कहलाता है तथा किसका दम किया जाता है?
8. उपरति क्या होती है तथा किससे उपरति करना चाहिए?
9. तितिक्षा क्या होती है तथा तितिक्षा का विषय क्या होता है?
10. श्रद्धा पद का क्या अर्थ होता है। तथा श्रद्धा का विषय क्या होता है?

11. समाधान क्या होता है तथा किसमें समाधान होता है?
12. मुमुक्षा किसे कहते हैं तथा मुमुक्षा किससे होती है?

23.6) विषय

अनुबन्धों में अधिकारी कौन होता है। यहाँ तक अधिकारी के विषय को कहा गया है। उसके बाद में दूसरा अनुबन्ध विषय अब उपस्थापित किया जा रहा है।

शास्त्रज्ञप्रमा अनिर्वृत्य अज्ञान गोचर विषय कहलाता है। अर्थात् प्रस्तुत शास्त्र के पठन से कोई प्रमा उत्पन्न होती है वह शास्त्रज्ञ प्रमा होती है। उस प्रमा के द्वारा सभी प्रकार के अज्ञान को दूर करना चाहिए। उस अज्ञान का कोई विषय होता है। वह ही विषय अनुबन्धों में अन्यतम विषय होता है। जिन विषयों को जानने के लिए शास्त्रों का पढ़ा जाता है वे विषय ही अनुबन्ध कहलाते हैं। शास्त्राध्ययन में अनुबन्धत्व के द्वारा कौन सा विषय कहा गया है इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान आवश्यक होता है। भले ही ग्रन्थ में बहुत से विषय कहे जाते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर के सारभूत का ग्रहण करना चाहिए। लेखक ने क्या ग्रहण करने के लिए ग्रन्थ की रचना की यदि इसकी स्पष्टता हो जाती है तो तात्पर्य को ग्रहण करने में भ्रम नहीं होता है। अन्यथा लेखक द्वारा दिए गए अभीष्ट का त्यागकर के पाठ कर अन्य कुछ और ही ग्रहण कर लेता है।

वेदान्त का विषय होता है- जीवब्रह्मैक्य शुद्धचैतन्य प्रमेय।

यह विषय क्या होता है। यह वेदान्तों का तात्पर्य होता है। यहाँ पर क्या प्रमाण है कि यह वेदान्तों का तात्पर्य है। इसका प्रमाण श्रुति है। जो उपनिषदों में इस प्रकार से कहा गया है - अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यादि। इन वाक्यों के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य ही प्रतिपादित किया गया है।

वेदान्तवाक्यों के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य किस प्रकार से विवक्षित किया गया है। तो कहते हैं की नीर तथा क्षीर समान गौण एवं घटाकाश तथा पटाकाश के समान मुख्य। नीर तथा क्षीर दोनों ही भिन्न होते हैं। लेकिन उन दोनों का मिश्रण करने पर जल तथा दूध को साधरण ता अलग नहीं कर सकते हैं। उन दोनों में ऐक्य का अनुभव होता है। वेदान्त वाक्यों के द्वारा भी इसी प्रकार का ऐक्य विवक्षित है। इसलिए शुद्ध चैतन्य कहा भी गया है। अर्थात् ऐक्य शब्द से यहाँ पर केवल नीरक्षीर के समान गौण ऐक्य ही विवक्षित नहीं है। यहाँ पर ऐक्य शब्द का अर्थ अभेद भी होता है। घट मध्यवर्ती आकाश महाकाश का ही अंश होता है। लेकिन घटरूपावरण के कारण वह पृथक् ही अनुभूत होता है। जैसे घटमध्यवर्ती आकाश घट के नाश होने पर महाकाश के साथ मिल जाता है जिससे दोनों का औपाधिक भेद निवर्तित हो जाता है तथा दोनों का ऐक्य हो जाता है। उसी प्रकार से अज्ञान के नाश होने पर जीव तथा चैतन्य शुद्धचैतन्य रूप के द्वारा ब्रह्मचैतन्य के साथ एकात्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार का मुख्य ऐक्य ही वेदान्त प्रतिपाद्य होता है। आत्मोपनिषद् में यह इस प्रकार से कहा गया है-

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्।

तथोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्॥ (1/22)

अर्थात्- घट का नाश होता है तो जैसे व्योम घट मध्यवर्ती आकाश स्वयं व्योम होता है तथा स्वयं ही महाकाश होता है। उसी प्रकार से उपाधि के विलय से तथा अज्ञान के नाश हो जाने पर ब्रह्मवान जीवात्म ब्रह्म रूप में स्वयं में होता है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:

वस्तुतः जीव तथा ब्रह्म में अभेद ही होता है। वहाँ पर जो भेद प्रतीति होती है वह अज्ञानमूला होती है। इस प्रकार का अज्ञान तब तक रुकता है जब तक स्वरूपाज्ञान नहीं होता है। इसलिए अज्ञान का नाशकरक जीव तथा ब्रह्म में शुद्धचैतन्यस्वरूप के प्रतिपादन के लिए इस प्रकार के विषय स्वीकार किए जाते हैं।

23.7) सम्बन्ध

अनुबन्धों में अधिकारी तथा विषय अभी तक कहे जा चुके हैं। तीसरा अनुबन्ध सम्बन्ध होता है। उसका अब उपस्थापन किया जा रहा है।

सम्बन्ध यहाँ पर दो प्रकार का है। चारों अनुबन्धनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है यहाँ पर देखना चाहिए।

बोध्यबोधकभावसम्बन्ध ग्रन्थ बोधक होता है तथा विषय बोध्य होता है। इसलिए ग्रन्थ तथा विषय में बोध्य बोधक भावसम्बन्ध होता है। विषय प्रमेय होता है। बोधक प्रमाण होता है। इसलिए प्रमेय तथा प्रमाण का सम्बन्ध बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध कहलाता है।

प्रमेय जीव तथा ब्रह्म ऐक्य अर्थात् अभेद है। उसके प्रतिपादन के लिए प्रमाण उपनिषदादि हैं। ग्रन्थ के साथ विषय का हमेशा बोध्यबोधकभाव ही संबंध होता है। शास्त्र तथा ग्रंथ बोधक होते हैं। और विषय बोध्य होता है। इसलिए विषय के साथ शास्त्र का बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध होता है। बोद्धचशब्द का अर्थ बोध का विषय होता है तथा बोद्धचशब्द बोध का जनक अर्थात् जो बोध को उत्पन्न करता है। शास्त्र से तथा ग्रन्थ से उत्पन्न बोध जो विषय होता है वही ग्रन्थप्रतिपाद्य विषय होता है। इसलिए वह बोध्य कहलाता है। शास्त्रविषयबोध का जनक होता है। इसलिए वह बोधक कहलाता है। इस प्रकार से ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है तो विषय जिज्ञासु के तथा उसके बोधक शास्त्र में प्रवर्तित होता है। और वह शास्त्राध्ययन करता है।

23.8) प्रयोजन

अनुबन्धों में अधिकारी विषय तथा सम्बन्ध इनका वर्णन किया जा चुका है अब चौथी अनुबन्ध प्रयोजन है जिसे अब उपस्थापित किया जा रहा है।

“प्रयोजनम् अनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते”।

प्रयोजन को बिना जाने मन्दबुद्ध व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। तो फिर बुद्धिमानों की तो बात ही क्या है। वे तो प्रयोजन के अभाव में अवश्य ही प्रवृत्त नहीं होंगे।

“यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्” (1.1.24) यह गौतमीय सूत्र भी कहता है की जिस-जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए कोई भी पुरुष किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है वह ही प्रयोजन कहलाता है। कुमारिलभट्ट ने भी कहा है

सर्वस्यैव तु शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।

यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥

इसलिए शास्त्रादि में तथा ग्रन्थादि में शास्त्र का तथा ग्रन्थ का जो प्रयोजन कहा गया है वह अनुबन्धचतुष्टय के प्रयोजन के अन्तर्गत ही आता है। वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है जीवब्रह्मैक्यरूपप्रमेयविषय के अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति। वह ही अलग प्रकार से- आत्यान्तिक संसारनिवृत्ति तथा ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा होती है।

जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य का प्रतिपादन ही वेदान्त ज्ञान का मुख्य विषय है। ऐक्यज्ञान के द्वारा ही मोक्ष सिद्ध होता है तथा संसार की आत्यान्तिक निवृत्ति भी होती है।

जीवब्रह्मैक्यप्रमेयगत अज्ञान की निवृत्ति ही ब्रह्म से साथ आत्म के ऐक्यविषयकज्ञान की निवृत्ति होती है तथा स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। स्वस्वरूप अज्ञान में जो आनन्द होता है उसकी प्राप्ति होती है। ऐक्यगत अज्ञान की निवृत्ति होती है तो स्वस्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है।



पाठगत प्रश्न 23.3

- वेदान्त का विषय क्या होता है? तथा वह विषय किस प्रकार से है?
- वेदान्त के अनुबन्धों में सम्बन्ध क्या होता है? तथा सम्बन्ध किसका होता है।
- वेदान्त का प्रयोजन क्या होता है? तथा यह प्रयोजन किस प्रकार से सिद्ध होता है।
- इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?
(क) शम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
- इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?
(क) शम (ख) विवेक (ग) विषय (घ) वैराग्य।
- इन अनुबन्धों में सबसे अन्यतम क्या है?
(क) शम (ख) विवेक (ग) अधिकारी (घ) वैराग्य
- इन अनुबन्धों में अन्यतम क्या होता है?
(क) शम (ख) विवेक (ग) सम्बन्ध (घ) वैराग्य
- इन अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है?
(क) शम (ख) विषय (ग) प्रयोजन (घ) अधिकारी
- यह अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है।
(क) दम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
- यह अनुबन्धों में अन्यतम नहीं होता है।
(क) मुमुक्षुत्व (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) वैराग्य
- यह साधन चतुष्टय में अन्यतम होता है?
(क) शम (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) श्रद्धा
- यह साधन चतुष्टय में अन्यतम होता है।
(क) विषय (ख) विवेक (ग) प्रयोजन (घ) अधिकारी
- शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।
(क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) मुमुक्षुत्व (घ) श्रद्धा



ध्यान दें:



ध्यान दें:

14. शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।
(क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) वैराग्य (घ) श्रद्धा
15. शमदमादि षट्क सम्पत्ति के अन्तर्गत यह नहीं होता है।
(क) उपरति (ख) तितिक्षा (ग) सम्बन्ध (घ) श्रद्धा
16. विषयों से मन का निग्रह क्या कहलाता है?
(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य
17. विषयों से बाह्य इन्द्रियों का निग्रह क्या कहलाता है?
(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य
18. विषयों से निवर्तित इन्द्रियों की श्रवणादि में एकाग्रता क्या कहलाती है।
(क) शम (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य
19. शीतोष्णादियों का द्वन्द्व सहन क्या कहलाता है?
(क) तितिक्षा (ख) दम (ग) उपरति (घ) वैराग्य
20. वेदान्तों का क्या तात्पर्य होता है?
(क) कर्म में (ख) ब्रह्म में (ग) स्वर्ग में (घ) देहधारण करने में

23.9) गुरूपसदन

इससे पहले इस पाठ में अनुबन्ध चतुष्टय का आलोचन किया गया है। उनमें अधिकारी अन्यतम है। और वह उक्तलक्षण लक्षित अधिकारी जननमरणात्मक चक्र की परीक्षा करके उसमें होने वाली व्याधियों का विचार करके संसारनल से संतप्त होकर के गुरु के पास जाता है। जिस प्रकार से सूर्य के ताप से दग्धमस्तिक की दाहनिवृत्ति के लिए वह शीतल जलराशि का अनुसरण करता है। वैसे ही संसार के तीनों तापों से दह्यमान तापनिवृत्ति के लिए अपने स्वरूप का जिज्ञासु संसारनिवर्तक श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ स्वप्रकाशात्मस्वरूपयुक्त गुरु के पास में जाता है। वहाँ जाकर के उनकी मन वाणी तथा कर्म के द्वारा सेवा करता है। तब वहाँ उपस्थित शिष्य के लिए गुरु करुणा के उपदेश देते हैं-

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्

प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं

प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ (मु.1.2.13)

इस श्लोक में अधिकारी के लक्षणों को बताया गया है। वह प्रशान्तचित्त, शमगुणयुक्त, जितेन्द्रिय, दमगुणयुक्त, रागादिदोषमुक्त, इस प्रकार से विवेकवैराग्य उपरतितितिक्षासमाधान गुणों से युक्त व्यक्ति को गुरु के पास श्रद्धावान होकर के जाना चाहिए।

इस प्रकार से अधिगताखिलवेदार्थ शुद्धचित्त एकाग्रमान तथा साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी होता है।

अधिकार सम्पदा प्राप्त करके उसे श्रवणादिक करना चाहिए। लेकिन शास्त्रज्ञ अधिकारी को भी स्वातन्त्र्य से ब्रह्मज्ञानान्वेषण नहीं करना चाहिए। अधिकार लाभ प्राप्त करके श्रवणादि के लिए गुरु के

समीप में जाना चाहिए। श्रुतियों में भी इस प्रकार से कहा है - परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ (मु.1.2.12)

ब्राह्मण को ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए लोकों की परीक्षा करनी चाहिए। प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान तथा आगम प्रमाणों के द्वारा सभी लोकों का परीक्षण करना चाहिए। किन लोकों का परीक्षण करना चाहिए? तो कहते की अव्यक्तादिस्थावर आदि सभी लोकों का परीक्षण करना चाहिए। इस प्रकार की परीक्षा के द्वारा क्या धारण करना चाहिए? यह धारण करना चाहिए की ये लोक उत्पत्ति तथा विनाश शील होते हैं। अनन्त सीमा वाले होते हैं। कदली के गर्भ के समान सारहीन होते हैं। मायामरीचि उदक आदि के समान होते हैं। गन्धर्वनगराकारस्वप्नजलबुद्बुदफेन के समान होते हैं। प्रतिक्षण बदलने वाले होते हैं। जो अविद्यावान होता है वह सकाम तथा विहित कर्मों को करता है। उसके कर्म के द्वारा ये लोक प्राप्त होते हैं। इसलिए वे लोक कर्मचित कहलाते हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म के द्वारा निर्वर्तित होते हैं। इस प्रकार की अवधारण करनी चाहिए। तथा इसी प्रकार से परीक्षा भी करनी चाहिए।

परीक्षण के बाद क्या करना चाहिए। तो कहते हैं की यहाँ पर कुछ भी अकृत तथा कृत नहीं है। अर्थात् इस संसार में कुछ भी अकृत अर्थात् नित्यपदार्थ नहीं है। सभी लोक कर्म से प्राप्य होते हैं। कर्मकृत होने के कारण ये अनित्य होते हैं। यहाँ पर कुछ भी नित्य नहीं होता है। सभी कर्म अनित्य के ही साधन होते हैं। जिनसे चार प्रकार के ही कर्म किए जाते हैं। उत्पाद्य आप्य विकार्य तथा संस्कार्य। इन कर्मों से कोई विषय भी नहीं है। मैं ही नित्य अमृत कूटस्थ अचल अर्थी हूँ। उसके विपरीत नहीं हूँ। इस प्रकार से किस कर्म के द्वारा आयासबाहुल्य वाले संसार से मुक्त हो जाएं। उसके अभय युक्त परमकल्याणकारी पद के ज्ञान के लिए गुरु के पास जाना चाहिए। किस प्रकार के गुरु के पास जाना चाहिए तो कहते हैं कि शमदमादि सम्पन्न आचार्य के पास जाना चाहिए। वह श्रोत्रिय अध्ययन श्रुतार्थसम्पन्न हो। ब्रह्मनिष्ठ सभी कर्मों को त्याग करके केवल अद्वैत ब्रह्म में निष्ठा वाला हो इस प्रकार से वह ही ब्रह्मनिष्ठ जपनिष्ठ तथा तपोनिष्ठ हो। कर्मयुक्त वाले की कर्मयोग तथा आत्मज्ञान के परस्पर विरोध के कारण ब्रह्मनिष्ठता सम्भव नहीं है। इस प्रकार से गुरु के पास जाकर के परम अक्षर परमपुरुष के विषय में पूछना चाहिए। शास्त्रज्ञ को भी स्वतन्त्रता पूर्वक ब्रह्म का अन्वेषण नहीं करना चाहिए। किस प्रकार से गुरु के पास जाएँ तो कहते हैं कि समित्पाणिः अर्थात् हाथ में समिधा लेकर के गुरु के पास में जाए।

इस श्रुति के द्वारा यह स्पष्ट होत है की लोक परीक्षा अनन्तर निर्वाण वैराग्य सम्पन्न होकर के गुरु के पास में जाना चाहिए तथा उनसे श्रवणादि कार्य करना चाहिए।

पुण्यातिशय से योग्यगुरु का लाभ होता है। इसलिए आचार्य शंकर ने कहा है- **पुण्यातिशयात् परमकारुणिकं कञ्चित् सदब्रह्मात्मविदं विमुक्तबन्धनं ब्रह्मिष्ठं यदा आसादयति। (छा.उ.भा.6.14.2)**

आचार्यवान् पुरुषो वेद (छा.उ. 6.14.2) इस श्रुति के माध्यम से यह समझा जाता है की आचार्य के द्वारा ही ब्रह्म का अनुभव होता है अचार्य के बिना कोई मार्गदर्शक नहीं होता है।

आचार्याद्भैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति। (छा.उ.4.9.3)

इस श्रुति से यह समझा जाता है कि आचार्य के द्वारा ही विदित साधिष्ठ साधुतमत्व प्राप्त होता है।

स्वयं तर्क द्वारा ब्रह्मज्ञान का अन्वेषण नहीं करे इस प्रकार का निषेध भी श्रुतियों में प्राप्त होता है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। (कठ.उ.1.2.9)



ध्यान दें:



ध्यान दें:

अर्थात् यह तर्क के द्वारा अपनी बुद्धि के द्वारा प्राप्तीय ब्रह्म नहीं होता है। तार्किक व्यक्ति अपनी बुद्धि से कुछ भी कल्पना कर सकता है। इसलिए जो यह आगमप्रभूत मति है वह आगम को समझने वाले आचार्य के द्वारा ही प्राप्त होती है जिससे ही सुविज्ञान होता है।



पाठगत प्रश्न 23.4

1. मुमुक्षु कब गुरु के पास जाता है?
2. गुरु किस कारण से विधिवत् उपासना के लिए उपदेश देता है?
3. गुरु के समीप में जाकर के अधिकारी क्या करता है?
4. लब्धाधिकार मुमुक्षु को किस प्रकार से ब्रह्म का अन्वेषण करना चाहिए?
5. गुरु के लाभ का क्या हेतु होता है?
6. आचार्य पुरुष वेद इस श्रुति का अर्थ लिखिए?

23.10) श्रवण

वेदान्त सार में कहा गया है कि छः प्रकार के अशेष वेदान्त के अद्वितीय वस्तु का तात्पर्यनिधरण श्रवण कहलाता है। और मनन से तात्पर्य है कि अद्वितीयवस्तु का वेदान्त के अनुसार अनवरत चिन्तन करना, तथा विजातीय देहादिप्रत्ययरहित अद्वितीय वस्तु का सजातीय प्रवाह निदिध्यासन होता है।

श्रवणं शब्दजं ज्ञानमुपपत्त्यानुचिन्तनम्।

मतिर्निरन्तरा चिन्ता निदिध्यासनमुच्यते॥

धर्मराजध्वरीन्द्र के मत में भी वेदान्तपरिभाषा के अद्वैतवेदान्तप्रकरण ग्रन्थ में भी ब्रह्मसाक्षात्कार के हेतु के रूप में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन को कहा गया है। वहाँ पर श्रवण का विषय कहा जाता है।

श्रवणं नाम वेदान्तानाम् अद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणानुकूला मानसी क्रिया इति।

श्रवण केवल कानों के द्वारा वेदान्त के वाक्यों का श्रवण नहीं है। अपितु अशेषवेदान्तवाक्यों के द्वारा अद्वैत ब्रह्म में निश्चय सम्पदान है। वेदान्तसार में भी श्रवण के विषय में कहा है।

“श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैः अशेषवेदान्तानाम् अद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम्”। श्रवण ही ब्रह्मरूपी आत्मा में तत्वमसि वाक्य का उस शब्दपर्यायलोचन के द्वारा तात्पर्यागम होता है।

इत्थं वाक्यैः तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत्।

युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥ (प.द.1.53)

तात्पर्य शब्दार्थः

अब कहते हैं की तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग क्या होते हैं?

जिस के द्वारा अर्थ का निर्धारण किया जाए वह लिङ्ग कहलाता है। तात्पर्यनिर्णय के लिए जिस लिङ्ग का प्रयोग होता है वह तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग कहलाता है। तात्पर्य किसे कहते हैं। तत् अर्थ है वह, वह जिससे परे होता है उसे तत्पर कहते हैं। तत्पर का ही भाव तात्पर्य कहलाता है। इसमें प्यञ् प्रत्यय है। शब्द या वाक्य जो अर्थ परक होता है वह तात्पर्य कहलाता है। तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्



ध्यान दें:

एव तात्पर्यम्। इस प्रकार से यह व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। अद्वैतमत में अद्वितीयब्रह्म में ही अशेषवेदान्त का तात्पर्य है। आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधि ये तीनों शाब्दबोध तात्पर्य के प्रति हेतु हैं। वेदान्त मत में तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम् ही तात्पर्यम् इस प्रकार से अर्थ किया गया है। शब्द के उस प्रकार के सामर्थ्यवश ही भोजन के प्रकरण में 'सैन्धवम् आनय' यहाँ पर सैन्धव शब्द का लवण का बोध होता है। अब कहते हैं कि सैन्धवशब्द का अश्वबोधसामर्थ्य होने पर भी उसने लवण का ही बोध क्यों करवाया। तो कहते हैं कि भोजनप्रकरण में सैन्धवशब्द से अश्वार्थ की प्रतीति नहीं हो। इस प्रकार से यहाँ पर सैन्धव का अर्थ लवण ही लिया गया है। अब कहते हैं कि अगर सैन्धव का अर्थ इच्छावश यदि अश्व करना हो तो तोभी यह अश्व की प्रतीति नहीं करवाएगा। उत्तर देते हुए कहते हैं कि इसके द्वारा इच्छा ही तात्पर्यत्व के रूप में अभिहित नहीं हो तो ऐसा भी नहीं है उससे इतर प्रतीतिजननेच्छा से अनुच्चारितत्व होने पर भी तत्प्रतीति जनन योग्यत्व का तात्पर्यत्व से विविक्षितत्व से उसका वही अर्थ होता है। लौकिक वाक्यों में तो तात्पर्य का अर्थ प्रकारणादि समाझा जाता है। इसलिए वाक्यपदीय में कहा है-

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः।

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलम्॥ इति।

अर्थ वाक्य, प्रकरण, औचित्य, तथा देश काल के भेद से शब्दों का अर्थ अलग अलग होता है। इसलिए इन सभी विषयों का विचार करके ही किन्हीं शब्दों के तात्पर्य को समझना चाहिए।

वैदिकों के वाक्यों का तो किन्हीं के मत में अधिकरणमुख से तथा किन्हीं के मत में उपक्रमादि के द्वारा तात्पर्य का निर्णय किया जाता है।

अधिकरण का तात्पर्य है- विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, सङ्गत्यात्मक तथा पञ्चलिङ्गक।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।

सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥ इति।

23.10.1) तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्ग

प्रकृत उपक्रमादि के द्वारा तात्पर्य का निर्णय किया जाता है इस प्रकार से उपक्रमादि का सामान्यपरिचय दिया जा रहा है-

उपक्रमादि तात्पर्य निर्णायकलिङ्ग प्रतिपादक श्लोक यह है-

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।

अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥ इति।

1) उपक्रम उपसंहार, 2) अभ्यास, 3) अपूर्वता, 4) फल, 5) अर्थवाद, 6) उपपत्ति इस प्रकार से ये छः तात्पर्यग्राहकलिङ्ग होते हैं।

अब इन उपक्रमादि लिङ्गों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है

23.10.2) उपक्रम तथा उपसंहार

प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकरण के आदि में तथा अन्त में उपपादन तथा उपक्रम तथा उपसंहार होते हैं। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में छठे अध्याय में आदि में 'एकमेवाद्वितीयम्' तथा अन्त में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। उपक्रम का आरम्भ में तथा उपसंहार पर समाप्ति पर वर्णन किया जाता है।



ध्यान दें:

23.10.3) अभ्यास

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके बीच बीच में बार बार प्रतिपादन अभ्यास कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीयवस्तु का मध्य में 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से नौ बार प्रतिपादन किया गया है। अभ्यास का अर्थ है आवृत्ति, अर्थात् बार-बार कहना।

23.10.4) अपूर्वता

प्रकरण प्रतिपाद्य के अर्थ का प्रमाणान्तर से अविषयीकरण करना अपूर्वत कहलाती है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में अद्वितीय वस्तु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अविषयीकरण किया गया है। जो विषय आगम प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। वह अन्य किसी भी प्रमाण के द्वारा यदि नहीं जाना जाता है तो वह विषय प्रमाणान्तर विषय कहलाता है।

23.10.5) फल

प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का तथा उसके अनुष्ठान का वहाँ-वहाँ सुनाई देने वाला प्रयोजन फल होता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में-

'आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्येश (छा.उ. 6.14.2) इस प्रकार से अद्वितीयवस्तु का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति प्रयोजन होता है।

23.10.6) अर्थवाद

प्रकरणप्रतिपाद्य विषय की जहाँ जहाँ पर प्रशंसा की जाती है वह अर्थवाद कहलाता है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में 'उत तमादेशमप्राक्ष्यः', येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् (छा.उ.6.1.3) इति इस प्रकार से अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की जाती है।

23.10.7) उपपत्ति

उपपत्ति युक्ति को कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य के अर्थ साधन में जहाँ जहाँ पर श्रूयमाण युक्त होती है वह उपपत्ति कहलाती है। जैसे- यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् इत्यादि में अद्वितीयवस्तु के साधन में विकार के वाचारम्भवमात्रत्व में युक्ति सुनी जाती है।

इस प्रकार से छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म होता है यह सुस्पष्ट हो चुका है। इसी प्रकार से अन्य शास्त्रों में भी तथा अन्य ग्रन्थों में भी देखना चाहिए। इस प्रकार से वेदान्तों के अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्यावधारण ही श्रवण के रूप में विस्तार से कहा है।

श्रवण से ही साक्षात्कार

यहाँ पर जो मत प्रस्तुत किया जा रहा है उसे एक ही मत समझना है। आत्मसाक्षात्कार के प्रति कुछ प्रतिबन्ध होते हैं। वे असम्भावना तथा विपरीत भावना होते हैं। जिस अधिकारी के युक्तसाधानों के अनुष्ठान से ये प्रतिबन्ध दूर हो जाते हैं वह निवृत्तप्रतिबन्धक अधिकारी उत्तमाधिकारी होता है। उसकी महावाक्यों के श्रवण से ही अद्वैत आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि हो जाती है। और गुरुमुख से वेदान्तों के

तात्पर्यनिर्धारणरूप श्रवण अभिन्न विचार ही आत्मसाक्षात्कार में हेतु होता है। विचार ही आत्मा तथा अनात्मा के बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप का शास्त्रानुसार चिन्तन करके निर्णय करता है।

मनन तथा निदिध्यासन प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए अनुष्ठेय होते हैं। मनन तथा निदिध्यासन की संशय तथा विपर्यय की निवृत्ति में उपयोगित्व होता है। असम्भावना प्रमाणगत तथा प्रमेयगत होता है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवण निवृत्त होती है। प्रमेयगत असम्भावना मनन से निवृत्त होती है। विपरीत भावना तो निदिध्यासन से निवृत्त होती है।

प्रमाणगत असम्भावना

प्रमाण रूप में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता इत्यादि ग्रन्थ होते हैं। उनमें असम्भावना होती है। अर्थात् उपनिषदों से तात्पर्य है उस विषय में संशय ही प्रमाणगत असम्भावना के रूप में होता है। वह कर्म में तथा ब्रह्म में इस प्रकार से दो प्रकार की होती है। भले ही पूर्वमीमांसा के अनुसार कर्म ही तात्पर्य होता है। आम्नाय का क्रियार्थ होता है। जिस वेदवाक्य का क्रियार्थत्व नहीं होता है। वह वेदवाक्य निरर्थक होता है। इसलिए जैमिनि मुनि के अनुसार अर्थवाद ही अभिप्रैत है। इस प्रकार से जैमिनि मुनि भी कर्म में वेदों के तात्पर्य का प्रतिपादन करते हैं तो फिर औरों की तो बात ही क्या है। इसलिए सभी वेदान्तों का ब्रह्म एक्य में ही तात्पर्य होता है। भले ही वेदान्त व्यवस्थापित किया गया है। फिर भी कोई दुरितबलपीडित होता हुआ असमर्थ होता है। दुरित का परिणाम ही यह असम्भावना है। इसलिए दुरितनास के बाद ही यथाविधि वेदान्तों का श्रवण किया जाता है तो तात्पर्य का ग्रहण भी होता है। जिससे प्रमाणगत असम्भावना दूर होती है।

प्रमेयगत असम्भावना

श्रवण के द्वारा यह जाना जाता है की ब्रह्म में ही वेदान्तों का तात्पर्य है न कि कर्म में। फिर भी जो यह जीवब्रह्म का अभेद प्रतिपादित है वह अभेद वास्तविक भेद है अथवा नहीं इस प्रकार का संशय उत्पन्न होता है। यह संशय वेदान्त का जो विषय प्रमेय है वह जीवब्रह्मैक्य तथा तद्विषयक है। इसलिए इसे प्रमेयगता असम्भावना कहते हैं। यह ही प्रतिबन्धिका तथा दुरित की परिणामरूपा है। इसलिए दुरित के नाश के बाद यथाप्रविधि श्रुतवेदान्त का जो मनन किया जाता है उससे यह संशय दूर हो जाता है। इस प्रकार से प्रमेयगत सम्भावना को दूर करना चाहिए।

असम्भावना चित्त की ब्रह्मात्म परिभावना प्रचय निमित्ततदेकाग्रवृत्त्य योग्यता कहलाती है।

विपरीत भावना शरीराद्यध्याससंस्कारप्रचय होता है। शरीरादि में आत्मभावना तथा विपरीतभावना होती है। अनेकजन्मार्जितसंस्कारवश देहादि में आत्माध्यास होता है। जिससे अहंता तथा ममता का उदय होता है। मैं देह हूँ, मैं स्थूल हूँ, मैं काना हूँ, यह मेरा है। इत्यादि रूप के द्वारा वह तादात्म्याध्यास तथा विपरीत भावना कहलाती है। इस प्रकार से देहादि के सत्यत्वनिश्चय तथा जीव ब्रह्म में भेद निश्चय ही विपरीत भावना होती है। निदिध्यासन के द्वारा विपरीत भावना नष्ट होती है।



पाठगत प्रश्न 23.5

1. श्रवण क्या होता है?
2. तात्पर्य क्या होता है?



ध्यान दें:

साधना-3



ध्यान दें:

3. तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग कितने होते हैं तथा वे कौन-कौन से हैं?
4. उपक्रम तथा उपसंहार क्या होते हैं तथा किसके अन्तर्गत होते हैं?
5. अभ्यास क्या होता है तथा कहाँ होता है?
6. अपूर्वत् किसे कहते हैं तथा वह कहाँ होती है?
7. फल क्या है तथा वह कहाँ पर होता है?
8. अर्थवाद क्या होता है? तथा वह कहाँ पर होता है?
9. उपपत्ति क्या होती है? तथा वह कहाँ पर होती है?
10. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम है।
(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) उपपत्ति
11. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम है।
(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) फलम्
12. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम है।
(क) विवेकः (ख) वैराग्यम् (ग) प्रयोजनम् (घ) उपक्रम उपसंहार
13. तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम है।
(क) श्रवणम् (ख) मननम् (ग) निदिध्यासनम् (घ) अपूर्वता
14. तात्पर्यनिर्णायक छ लिङ्गों में यह नहीं है।
(क) विवेकः (ख) फलम् (ग) अपूर्वता (घ) उपपत्तिः
15. तात्पर्यनिर्णायक छ लिङ्गों में यह नहीं है।
(क) वैराग्यम् (ख) फलम् (ग) अपूर्वता (घ) उपपत्ति
16. उपपत्ति किसके अन्तर्गत होती है ?
(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के
(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णाय लिङ्गों में
17. फल किसके अन्तर्गत होता है?
(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के
(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में
18. विवेक किसके अन्तर्गत होता है?
(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के
(ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में
19. विषय किसके अन्तर्गत होता है?
(क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के

20. दम किसके अन्तर्गत होता है?
- (ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में
- (क) अनुबन्धों के (ख) साधनचतुष्टय के
- (ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय लिङ्गों में
21. प्रायश्चित्त किसके अन्तर्गत होता है?
- (क) चित्त के शोधकर्मों में (ख) साधनचतुष्टय में
- (ग) शमादिषट्क सम्पत्ति में (घ) तात्पर्यनिर्णय छः लिङ्गों में



ध्यान दें:

23.11) मनन

मनन का लक्षण वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजध्वरीन्द्र ने इस प्रकार से कहा है।

मननं नाम शब्दावधारिते अर्थे मानान्तरविरोधशङ्कायाम् तन्निराकरणानुकूलतर्कात्मकज्ञानजनको मानसो व्यापार इति।

श्रवण का जो अर्थ निश्चित होता है वहाँ पर प्रमाणान्तरों के द्वारा बहुत सारे विरोध उपस्थित हो जाते हैं। अन्य भी आक्षेपादि के द्वारा भ्रमित कर सकते हैं। जिससे अपने मन में विरुद्ध युक्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। इस प्रकार से होने पर मनोवृत्तिविशेषण वेदान्तानुगुणयुक्तियों के द्वारा विरुद्धमतों का खण्डन करके अपने मत में दृढ़ता सम्पादित करना ही मनन कहलाता है। अध्यात्मोपनिषद् में भी यही कहा गया है।

युक्त्या सम्भविततत्त्वानुसन्धानं मननं तु तत्।

मनन तर्कात्मक होता है। लेकिन इसके द्वारा वेदसिद्धान्तविरोधी तर्क जानना चाहिए। न की वेदसिद्धान्त विरोधी तर्क। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है- “श्रुत्यनुगृहीतः एव ह्यत्र तर्कोनुभवाङ्गत्वेन आश्रियते” इति। मनु ने भी इस प्रकार से कहा है।

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ (मनुसंहिता 10.106)

अर्थ- जो ऋषियों के द्वारा धर्मोपदेश से वेदस्मृतादिशास्त्र अविरोधि तर्क के द्वारा अनुसन्धान करते हैं वह ही धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ सकता है न की अन्य।

वेदान्तसारकार के द्वारा मनन के विषय में कहते हैं।

“मननं तु श्रुतस्य अद्वितीयवस्तुनः वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः अनवरतम् अनुचिन्तनम्” इति।

इसलिए वेदान्त वाक्यों को सुनकर के अद्वैतब्रह्म में ही वेदान्तों का तात्पर्य समझकर के विरोधी युक्तियों का वेद सिद्धान्त विरोधी युक्तियों के द्वारा निराकरण करना ही मनन रूपी अर्थ फलित होता है।

अनुमानं वेदान्ताविरोधि, तदुपजीवि च इत्यपि द्रष्टव्यम् शब्दाविरोधिन्त्या तदुपजीविन्त्या च युक्त्या विवेचनं मननम् युक्तिश्च अर्थापत्तिरनुमानं वा। (ब्र.सू. भामती 1.1.2)

मनन में तर्क का उपयोग

असंभावनाभिभूतविषयत्व से विद्या उदिता भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करती है। उसी प्रकार से इस संसार में देश काल में यह वस्तु सम्भव नहीं हैं इस प्रकार की दृढ़ भावना होती है। यदि वह कैसे भी



ध्यान दें:

दैववश उपलब्ध हो जाती है तो। तब स्वयं देखते हुए भी उसपर विश्वास नहीं होता है जब तक उसके सम्भव का अनुसरण नहीं करते हैं। उससे सम्यक् ज्ञान होने पर भी अप्रतिष्ठित अनववाप्त ही होता है। उसके द्वारा तत्स्वरूप प्रतिष्ठा के लिए तर्क सहायता करता है। इसलिए प्रमाणों का अनुग्राहक तर्क कहलाता है। इस प्रकार तर्कविदों ने कहा है। (पञ्चपादिका प्रथमवर्णकम्)

मनन के द्वारा प्रमेय गत असम्भावना का निवारण होता है।

23.12) निदिध्यासन

श्रवण तथा मनन के बाद निदिध्यासन किया जाता है। उसका लक्षण वेदान्तपरिभाषा में इस प्रकार से किया गया है।

निदिध्यासनं नाम अनादिदुर्वासनया विषयेषु आकृष्यमाणचित्तस्य विषयेभ्यः अपकृष्य आत्मविषयक-स्थैर्यानुकूलो मानसो व्यापारः इति।

वेदान्तसार में निदिध्यासन के विषय में इस प्रकार से कहा गया है।

“विजातीयदेहादिप्रत्ययरहित-अद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहः निदिध्यासनम्” इति।

अशेष वेदान्तों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में ही श्रवण के द्वारा निश्चित होता है। उससे प्रमाणगत असम्भावना निकल जाती है। मनन के द्वारा प्रमेयगत असम्भावना दूर होती है। फिर भी अनादिकाल से कोई दुर्वासना अन्तःकरण में विद्यमान होती है। वहाँ पर मैं देह, मैरा यह इस प्रकार की अहंता तथा ममता रूपी भावना मूल होती है। लेकिन श्रवण मनन के द्वारा निश्चित होने पर जो ‘श्रुति के द्वारा तथा उसके प्रतिपादकत्व से आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त होती है’ इत्यादि युक्तियों के द्वारा उसमें बताया गया है। तब ‘मैं देह हूँ’ इस प्रकार के विजातीय प्रत्यय को त्यागकरके ‘मै आत्मा हूँ’ इस प्रकार के अद्वितीय सजातीयप्रत्यय के प्रवाह निदिध्यासपद वाच्य होता है। चित्त विषयों में आकृष्ट होता है। इस प्रकार से विषयों में आकृष्यमाण चित्त जिस मनोवृत्तिविशेषण के द्वारा विषयों से खींचा जाता है तथा आत्मविषयों में स्थिरता सम्पादित की जाती है वह ही ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण होता है। इसलिए कहा गया है “निदिध्यासन ही ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण होता है” इस प्रकार से।

जब मन स्थिर होता है अर्थात् मन में देहादि प्रत्ययों का आविर्भाव नहीं होता है। तब स्थिर शान्त एकाग्र मन में अविच्छिन्नतैलधारा के समान अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का सतत प्रवाह होता है वह ही निदिध्यासन कहलाता है। इसलिए कहा गया है-

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।

एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥ इति।

अर्थात्- श्रवण तथा मनन के द्वारा जब अर्थ निः सन्दिग्ध होता है तब उस निः सन्दिग्ध वस्तु में मन की एकाग्रता ही निदिध्यासन कहलाती है।

इस प्रकार से श्रवण मनन निदिध्यासन आदि ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण होते हैं। अतः कहा गया है-

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येयम् एते दर्शनहेतवः॥ इति।

इसका सार यह है कि-

आनन्दरूपब्रह्म की प्राप्ति ही मोक्ष कहलाती है। और वह ज्ञान मात्र के द्वारा साध्य होता है। ज्ञान जीवब्रह्मैक्यगोचरापरोक्षसात्काररूप ही होता है। वह तत्वमसि इस प्रकार के महावाक्यों के अधीन होता है। अथवा श्रवणादिसंस्कृतमनोनिबन्ध होता है। मोक्ष सर्वथा उपासनात्मक क्रियासाध्य नहीं होता है। और नहीं कर्मसाध्य।



पाठगत प्रश्न 23.6

- मनन क्या होता है? तथा मनन के द्वारा किसकी निवृत्ति होती है?
- निदिध्यासन क्या होता है? उसके द्वारा किसकी निवृत्ति होती है?
- प्रमाणगता असम्भावना के द्वारा निवर्तक क्या होता है?
(क) श्रवणम् (ख) मननम् (ग) निदिध्यासनम् (घ) विवेकः
- प्रमेयगतासम्भावना का निवर्तक क्या होता है?
(क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) विवेक
- विपरीत भावना का निवर्तक क्या होता है?
(क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) विवेक
- चित्त के मल का नाशक क्या होता है?
(क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) निष्कामकर्मयोग
- चित्त विक्षेप का शामक क्या होता है?
(क) श्रवण (ख) मनन (ग) निदिध्यासन (घ) उपासना

23.13) गीताभाष्य

मोक्ष परमनिःश्रेयस् कहलाता है। उसका साधन क्या है इस विषय में अनेक पूर्व पक्ष हैं। बहु युक्तिजाल भी विस्तीर्ण होता है। प्रायः सभी विषय का साधक बाधक युक्तियों के द्वारा परीक्षण करके भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य जी ने गीता के अन्तिम अध्याय में कहा है। उसका ही यहाँ पर उपस्थापन किया जा रहा है।

गीताभाष्य

इस गीता शास्त्र में परमनिःश्रेयस का साधन ज्ञान है अथवा कर्म या दोनों। इस प्रकार का संशय होता है। 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (भ. गी. 13.12) 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' (भ. गी. 18.55) इत्यादि वाक्य केवल ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति दिखाते हैं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (भ. गी. 2.47) 'कुरु कर्मैव' (भ. गी. 4.15) इत्यादि वाक्य कर्म की आवश्यकताओं को दर्शाते हैं। इस प्रकार से ज्ञान तथा कर्म के कर्तव्योपदेश से समुचित एक निःश्रेयस का हेतु कौन है यहाँ पर संशय उत्पन्न होता है। क्या यहाँ पर मीमांसा फलित होती है। निश्चित रूप से यह इन अन्यतम परमनिःश्रेयससाधनत्व अवधारण होता है। इसलिए इनकी विस्तीर्ण मीमांसा की गई है।

केवल्यफलसायित्व से भेदप्रत्ययनिवर्तकत्व के द्वारा आत्मज्ञान का तो केवल निःश्रेयसहेतुत्व होता



ध्यान दें:

साधना-3



ध्यान दें:

है। क्रिया कारक फल भेद बुद्धि अविद्या के द्वारा आत्मा में नित्य प्रवृत्त होती है मेरा कर्म, मैं कर्ता, उस फल के लिए यह करूँगा। इस प्रकार की यह अविद्या अनादि काल से प्रवृत्त होती हुई आ रही है। इस विद्या का निर्वर्तक 'यह मैं हूँ केवल अकर्ता हूँ अक्रिय तथा अकल युक्त हूँ मेरे अलावा कोई नहीं है।' इस प्रकार से यह रूप ही आत्म विषय ज्ञान का उत्पद्यमान कर्मप्रवृत्तिहेतुभूता भेदबुद्धि से निर्वर्तकत्व से होता है। इस प्रकार से शब्दपक्षव्य अर्थ यह है कि न केवल कर्मों से तथा न ज्ञान तथा कर्मोंसे निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से दोनों पक्षों का निवारण होता है। अकारत्यत्व से निःश्रेयस की कर्मसाधनत्व अनुपपत्ति होती है। नित्य वस्तु ज्ञान के द्वारा तथा कर्म के द्वारा प्राप्त की जाती है। और अविद्यानिर्वर्तकत्व होने पर दृष्टकैवल्यफलावसानत्व से, केवल ज्ञान भी अनर्थक नहीं होता है। अविद्यातमोनिर्वर्तक ज्ञान का दृष्टकैवल्यफलावसानत्व रज्ज्वादिविषय में सर्पाद्यज्ञानतमोनिर्वर्तकप्रदीप प्रकाशफल के समान होता है। विवृत्त सर्पादिविकल्पपरज्जुकैवल्यवसान ही प्रकाशफल होता है। उसी प्रकार से ज्ञान होता है। दृष्टार्थों की च्छिदिक्रिया अग्निमन्थनादियों व्यापृतकर्त्रादिकारकों की द्वैधीभावाग्निदर्शन फल से अन्यफल में अर्थ कर्मान्तर में जो व्यापारानुपपत्ति जैसे होती है। वैसे ही दृष्टार्थज्ञाननिष्ठाक्रिया में व्यापृत ज्ञात्रादिकार की आत्मकैवल्यफल से कर्मान्तर में प्रवृत्ति अनुपपन्न होती है, इस प्रकार से ज्ञाननिष्ठा-कर्मसंहिता उपपादित नहीं होती है। यदि भुज्यग्निहोत्रादिक्रिया के समान हो तो भी नहीं। कैवल्यफल ज्ञान में क्रियाफलार्थित्वानुपपत्ति होती है। कैवल्यफल में ही ज्ञानप्राप्ति होने पर सर्वतः सम्प्लुतोदकफल में कूपतटाकादिक्रियाफलार्थित्व अभाव से समान ही फलान्तर तत्साधनभूता क्रिया में अर्थित्व की अनुपपत्ति होती है। जिस प्रकार से राज्यप्राप्तिरूपी कर्मफल में व्यापृतक्षेत्रमाप्राप्तिफल में व्यापार उपपादित तथा वह विषय ही अर्थित्व होता नहीं है। उसी प्रकार से कर्म से भी निःश्रेयस साधनत्व नहीं होता है। और दोनों समुच्चित ज्ञान कर्म के द्वारा भी नहीं। अविद्यानिर्वर्तकत्व के द्वारा विरोध से ज्ञान कैवल्यफल को कर्म की सहायता की अपेक्षा नहीं होती है। तम तमस का निर्वर्तक नहीं होता है। इसलिए केवल ज्ञान ही निःश्रेयसाधन नहीं होता है। नित्याकरण में प्रत्यवायप्राप्ति से कैवल्य का ही नित्यत्व होता है। अगर केवल यह कहें की केवल ज्ञान से कैवल्य की प्राप्ति हो जाए तो वह भी असत् है क्योंकि नित्यादि कर्मों को श्रुति के अनुसार नहीं करने पर नरकादि प्राप्ति लक्षण होता है। तो फिर कहते हैं की कर्मों से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी तो मोक्ष मिलेगा ही नहीं।

तब उत्तर देते हुए कहते हैं की मोक्ष के नित्यत्व होने के कारण यहाँ पर यह दोष नहीं है। नित्यकर्मों के अनुष्ठान से प्रत्यवाय की अप्राप्ति, तथा प्रतिषिद्ध के अकरण से अनिष्टशरीर की अनुपपत्ति, काम्यों को छोड़ने से इष्टशरीर की अनुपपत्ति, वर्तमान शरीर आरम्भक कर्मों को फलोपगों का क्षय होने पर पतित इस शरीर के पतित होने पर देहान्तर उपपत्ति और कारणाभाव से आत्मक के रागादि के अकरण में स्वरूपावस्थान ही कैवल्य अर्थात् अयत्नसिद्ध कहलाता है। अनेक जन्मान्तर कृत स्वर्गनरकादिप्राप्तिफल वाले अनारब्ध कार्यों का अतिक्रमण करके उपभोग अनुपपत्ति से यदि क्षय का अभाव होता है तो ऐसा भी नहीं। क्योंकि नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखोपभोग की तत्फलोपत्ति होती है। प्रायश्चित्त के लिए तथा पूर्व के उपातों को दूर करने के लिए नित्यकर्म किए जाते हैं।

आरब्ध कर्मों के उपभोग के द्वारा ही क्षीणत्व होने से अपूर्व कर्मों के अनारम्भ में अयत्नसिद्ध कैवल्य की प्राप्ति हो जाए तो ऐसा भी नहीं है। क्योंकि श्रुतियों में कहा है 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे. उ. 3. क्र.) इस प्रकार से उस विद्या के उसको जाने बिना और कोई मार्ग है की नहीं इस प्रकार से श्रुति ने कहा है। इस प्रकार से 'ज्ञानात्कैवल्यप्राप्तिः' इत्यादि पुराणवचनों की, अनारब्ध पुण्यों को कर्मों की क्षय अनुपपत्ति भी होती है।

जिस प्रकार से पूर्वपात दुरितों के अनारब्धफल सम्भव होते हैं वैसे ही पुण्यों के भी अनारब्ध फल सम्भव होना चाहिए। उनकी तो देहान्तर किए बिना ही क्षयानुपपत्ति तथा मोक्षानुपपत्ति होती है। धर्म के



ध्यान दें:

हेतु रागद्वेषमोहादि के अन्य जगह आत्मज्ञान से उच्छेदानुपपत्ति होने से धर्माधर्मोच्छेदानुपपत्ति होती है। नित्य कर्मों की पुण्यफलत्वश्रुतियों की 'वर्ण आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः' (गौ. ध. सू. 2.2.29) इत्यादि स्मृतियों से कर्मक्षयानुपपत्ति होती है और जो यह कहते हैं कि नित्यादिकर्म दुःखरूपत्व से पूर्वदुरितकर्मों को फल ही है, उनका स्वरूप व्यतिरेक के कारण अश्रुतत्व से तथा जीवनादिनिमित्त के विधान से अन्य फल नहीं होता है। अप्रवृत्त कर्मों के फल प्रदान में असम्भव होने से दुःखफलविशेषों की अनुपत्ति नहीं होनी चाहिए। जो यह कहा गया है की पूर्वजन्मकृतदुरित कर्मों का फल नित्यकर्म अनुष्ठान अनायदुःख के रूप में भोगा जाता है तो वह भी असत् है। क्योंकि मरण काल में फल देने के लिए अनङ्कुरीभूत कर्मों के अगले जन्म में अन्यकर्म आरब्ध होने पर वे उपभुज्य नहीं होते हैं इस प्रकार की उपपत्ति होती है। नहीं तो स्वर्गफलोपभोग के लिए अग्निहोत्रादि कर्मों के आरम्भ करने पर नरकफलोपभोग की अनुपपत्ति नहीं हो। उस दुरित की दुःख के विशेषफलत्व अनुपत्ति से अनेक दुरुतों में सम्भव भिन्नदुःखसाधन फलों में नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमात्र फलों में कल्प्यमान में द्वन्द्व आदि रोगादि का बाध की कल्पना नहीं कर सकते हैं, नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःख से होने वाले पूर्वोपात्तदुरित फल शिरस पत्थर तोड़ने वाले दुःख नहीं होते हैं। इसलिए कहते हैं की नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःख पूर्वकृतदुरुतकर्मफल ही होता है। कैसे। अप्रसूत फल का पूर्वकृत दुःख का क्षय उपपद्य नहीं होता है। वहाँ पर प्रसूतफल कर्म का फल नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःख कहा गया है। वहाँ पर आप अप्रसूत फल का अर्थ नहीं कर सकते हैं।

इस प्रकार से यदि आप सब कुछ पूर्वकृत दुरित को प्रसूतफल ही मानते हैं। तो उससे नित्य कर्मानुष्ठानायास दुःख ही फल है इस प्रकार वहाँ पर विशेषण अयुक्त है। नित्यकर्मविद्यानर्थक्यप्रसङ्ग, उपभोग के द्वारा ही प्रसूतफल के दुरुत कर्म की क्षयोपपत्ति होती है। लेकिन श्रुत नित्यकर्म का दुःख तो फिर फल हुआ, और वह नित्यकर्मानुष्ठानायास से ही व्योमादि के समान दिखाई देता है उससे अन्य की कल्पना अनुपपत्ति होती है। जीवनादि निमित्त में विधान से नित्यकर्मों के प्रायश्चित्त के समान पूर्वकृत दुरित फलत्व की अनुपपत्ति होती है। जिस पाप कर्म के जो निमित्त जो प्रायश्चित्त विहित है वह प्रायश्चित्त उस पाप का फल नहीं होता है। इसलिए उसी पाप के निमित्त का प्रायश्चित्त दुःख ही फल होता है, जीवनादिनिमित्त होने पर भी नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःख जीवनादिनिमित्त के ही फलों को नित्य प्रायश्चित्त तथा नैमित्तिकत्वाविशेष से उत्पन्न करता है। कुछ लोग अन्य प्रकार से मानते हैं वे कहते हैं की नित्य काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान अनायासदुःख के तुल्य होने से नित्यानुष्ठानायासदुःख ही पूर्वकृत दुरित का फल होता है, न की काम्यानुष्ठानायासदुःख होता है इस प्रकार से विशेष नहीं होने पर भी पूर्वकृत दुरितों का फल तो उत्पन्न होती ही है। और होने पर नित्य के फल श्रवण से और उनका विधान अन्यथा अनुपपत्ति से नित्यानुष्ठानायासदुःख पूर्वकृतदुरितफल के अर्थापत्ति की कल्पना अनुपपन्न होती है, इस प्रकार से विधान के अन्यथा अनुपपत्ति के अनुष्ठानायासदुःखव्यतिरिक्तफलत्व अनुमान नित्य होता है। लेकिन यह विरुद्ध भी कहा जाता है। नित्यकर्म के द्वारा अनुष्ठीयमान से अन्य कर्म का फल भोगा जाता है, इस प्रकार से मानने पर ही वह उपभोग नित्यकर्म का फल होता है तथा नित्यकर्म का फलाभाव इसके विरुद्ध कहा जाता है। कहीं पर तो काम्य अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करने पर नित्यकर्मों का भी अग्निहोत्रादि तन्त्र के द्वारा अनुष्ठान हो जाता है। तब आयासदुःख के द्वारा ही काम्याग्निहोत्रादिफल तत्तन्त्रत्व से उपक्षीण होते हैं। इसलिए काम्याग्निहोत्रादि का फल अन्य स्वर्गादि तदनुष्ठानायासदुःख भी भिन्न ही होता है। लेकिन वह नहीं दृष्ट विरोध के कारण नहीं होता है, काम्यानुष्ठानायासदुःख से केवलनित्यानुष्ठानायासदुःख भिन्न दिखाई नहीं देते हैं। लेकिन कहीं पर अन्य अविहितम प्रतिषिद्ध कर्म तत्कालफलवाले तथा शास्त्र प्रेरितप्रतिषिद्ध तत्काल फलवाले नहीं होते हैं। तह स्वर्गादि में भी अदृष्टफलशासन के द्वारा उद्यम नहीं होता है। अग्निहोत्रादि के ही कर्मस्वरूपाविशेष में नित्यों का अनुष्ठानायासदुःखमात्र से उपक्षय, काम्यों का स्वर्गादि महाफलत्व अंगीकार करने पर इनकी कर्तव्यताधिक्य के असत् होने से ये कभी भी उपपद्य हो सकते हैं। इसलिए अविद्यापूर्वक कर्म के होने से ही शुभ तथा

साधना-3



ध्यान दें:

अशुभ का क्षयकारण विशेष होता अशेषत होने से नित्याकर्मों का अनुष्ठान नहीं होता है।

सभी कर्म अविद्या काम बीज ही होते हैं। और उपपादि विद्वत विषय कर्म विद्वत विषय सर्वकर्मसंन्यासपूर्विकाज्ञाननिष्ठा- 'उभौ तौ न विजानीतः' (भ. गी. 2.19) 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (भ. गी. 2.21) 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (भ. गी. 3.3) 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (भ. गी. 3। 26) 'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते' (भ. गी. 3.28) 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते' (भ. गी. 5.13) 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (भ. गी. 5.8), अर्थात् अज्ञः करोमि इति ; आरुरुक्षोः कर्म कारणम्, आरूढस्य योगस्थस्य शम एव कारणम् ; उदाराः त्रयोऽपि अज्ञाः, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (भ. गी. 7.18) 'अज्ञाः कर्मिणः गतागतं कामकामाः लभन्ते' ; अनन्याश्चिन्तयन्तो मां नित्ययुक्ताः यथोक्तम् आत्मानम् आकाशकल्पम् उपासते ; 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते', अर्थात् अज्ञानि कर्मों भगवान को प्राप्त नहीं करते हैं। अपितु भगवत्कर्म करने वाले जो युक्त होते हैं वे भी कर्मि अज्ञ होते हैं वे उत्तरोत्तरहीनफलत्यागावसानसाधना वाले तथा अनिर्देश्याक्षरोपासक होते हैं 'अद्वेष्या सर्वभूतानाम्' (भ. गी. 12.13) इस प्रकार से इस अध्याय में परिसमाप्ति तक कही गई साधना क्षेत्राध्यायद्विध्याय में जो ज्ञान साधना कही गई है। सर्वकर्म संन्यासियों के अधिष्ठानादि पाँच कर्म हेतु होते हैं आम एकत्व कर्तृत्व ज्ञान वालों की पर ज्ञाननिष्ठा में वर्तमान भगवत तत्त्व विदों के अनिष्ठादिकर्मफलत्रय परमहंसपरिव्राजकों के ही लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकशरणों के नहीं होते हैं, अगर होते हैं तो केवल अन्य अज्ञानी कर्म संन्यासियों के होते हैं। यह ही गीताशास्त्रोक्तकर्तव्यार्थ का विभाग है। अविद्यापूर्वक सभी के कर्म असिद्ध होते हैं तो ब्रह्महत्यादि के समान ऐसा भी नहीं है। भले ही शास्त्र में नित्यकर्म कहे गये हैं। फिर भी वे अविद्या के समान ही होते हैं। जैसे प्रतिषेध शास्त्रों को समझने पर भी ब्रह्महत्यादि लक्षण कर्म अनर्थकारण अविद्याकामादिदोष के समान होते हैं। नहीं प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होती है। जैसे नित्य नैमित्तिक काम्य भी होते हैं। देहव्यतिरिक्त आत्मा के अज्ञात होने पर प्रवृत्ति नित्यादि कर्मों में अनुपपन्न हो चलनात्मक कर्म की तथा अनात्मक कर्तृक की ' मैं करता हूँ' इस प्रकार की प्रवृत्ति के दर्शन के कारण ऐसा भी नहीं होता है। देहादिसङ्घात में अहं प्रत्यय गौण तथा मिथ्या नहीं हो, तो उस कार्य में गौणत्व की उपपत्ति के कारण ऐसा भी नहीं है। आत्मीय देहादिसङ्घात में अहं प्रत्यय गौण होता है। आत्मीय पुत्र में 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (तै. आ. एका. 2.11) इति, लोके च 'मम प्राण एव अयं गौः' इस प्रकार से यह मिथ्याप्रत्यय नहीं होता है। मिथ्या प्रत्यय तो स्थाणुपुरुषों में अगृह्यमाण विशेषणों में होता है। गौण प्रत्यय की मुख्यकार्यार्थता अधिकरणस्त अर्थत्व से तथा लुप्तोपमा शब्द के कारण नहीं होती है। जैसे 'सिंहो देवदत्तः' 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि में सिंह के समान अग्नि के समान क्रूरता पिङ्गलता आदि सामान्य धर्मत्व से देवदत्तत्व माणवकाधिकरण स्तुतिार्थ ही होता है, न की सिंह के कार्य को तथा अग्नि के कार्यों को गौण शब्द प्रत्यय निमित्त रूप में कुछ साधित होता है मिथ्याप्रत्यय कार्य तो अनर्थ का अनुभव करवाते हैं। गौण प्रत्यय विषय को जो जानता है वह 'नैष सिंहः दैवदत्तः' तथा न 'नायमग्निमाणवकः' इस प्रकार से मानता है तथा गौण देहादिसङ्घात आत्मा के द्वारा किया कर्म मुख्य रूप से अहं प्रत्यय युक्त आत्मा के द्वारा किया होता है। न कि गौणसिंहा अग्नि के द्वारा किया गया कर्म मुख्यसिंहाग्नियों के द्वारा किया गया होता है। न क्रूरता से तथा पैङ्गल्य से मुख्यसिंह तथा अग्नि के स्तुत्यर्थत्व के कारण तथा उपक्षीणत्व के कारण कोई कार्य करते हैं। जिनका वर्णन किया गया है वो तो जानते हैं की न तो मैं आग हूँ और न ही मैं सिंह हूँ।

जिस प्रकार से यह कहा गया है की स्मृति इच्छा प्रयत्न कर्म हेतुओं के द्वारा आत्म कर्म करती है, उनके मिथ्या प्रत्यय पूर्वकत्व होने से ऐसा नहीं है। मिथ्या प्रत्यय निमित्तेष्टा निष्ठानुभूत क्रिया फल जनित संस्कार पूर्वक ही स्मृतिच्छयाप्रयत्नादि होते हैं। जैसे इस जन्म में देहादिसङ्घाताभिमानरागद्वेषादि करने पर धर्म तथा अधर्म तत्फलानुभव, तथा अतीत में अतीत जन्म में अनादिविद्याकृत संसार अतीत अनागत

अनुमेय होता है। वह सर्व कर्म संन्यास सहित ज्ञाननिष्ठा के द्वारा आत्यन्तिक संसारों पर इस प्रकार से सिद्ध होता है। अविद्यात्मकत्व देहाभिमान का उसकी निवृत्ति में देहानुपपत्तिसे संसारानुपपत्ति होती है। देहादिसङ्घात में आत्माभिमान अविद्यात्मक होता है। जिस प्रकार से लोक में 'गवादिभ्योऽन्योहम् मत्तश्चान्ये गवादयः' इस प्रकार से जानता हुआ अपने को मैं मानता है। नहीं जानता हुआ तो स्थाणु में पुरुषविज्ञान के समान अविवेक से देहादिसङ्घात को मैं मानता हूँ।

'आत्मा वै पुत्र नामासि' (तै. आ. एका. 2। 11) इस प्रकार से पुत्र मैं अहं का सम्बन्ध जन्यजनकसम्बन्धनिमित्त गौण होता है। गौण आत्मा से भोजनादि तथा प्रमार्थ कार्य नहीं किए जा सकते हैं। जैसे गौणसिंहाग्नि से मुख्यसिंहाग्निवत् कार्य।

अदृष्टविषयप्रेरक प्रमाण से आत्मकर्तव्य गौण देहेन्द्रिय आत्मा के द्वार किए जाते हैं तो ऐसा भी नहीं है क्योंकि उनका कार्य तो अविद्या के द्वारा किया जाता है। आत्मा में गौण देह इन्द्रियाँ आदि भी नहीं होती हैं।

अविवेकी बालकों के द्वारा अज्ञान काल में यह देखा जाता है कि मैं बड़ा हूँ, मैं छोटा हूँ, मैं गौरा हूँ, इस प्रकार से देहादिसङ्घात में अहं प्रत्यय होता है। विवेकियों का तो 'अन्योऽहं देहादिसङ्घात' मैं देहादिसङ्घातों से अलग हूँ इस प्रकार से देह आदि में उनका अहं प्रत्यय नहीं होता है। इस प्रकार से मिथ्याप्रत्यय के अभाव में तत्कृत गौण ही होता है।

अलग से गृह्यमाण विशषसामान्य में सिंहदेवदत्त अग्निमाणवक के समान गौण प्रत्यय अथवा शब्द प्रयोग होता है। न की अगृह्यमाण विशेषमानन्य में। क्योंकि यह कहा गया है 'श्रुतिप्राणाण्यात्' इसप्रकार से लेकिन उस प्रमाण के अदृष्टविषयत्व से वैसा भी नहीं होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण की अनुपलब्धि होने पर विषय में अग्निहोत्रादि साध्य सम्बन्ध में ही श्रुति का प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष आदि में अदृष्टदर्शनार्थविषयत्वात् प्रामाण्य का भाव नहीं होता है। इसलिए दृष्टमिथ्याज्ञाननिमित्त अहं प्रत्यय के देहादिसङ्घात में गौणत्व कल्पित नहीं कर सकते हैं।

कर्म विधि श्रुति के समान ब्रह्म विद्या श्रुति भी अप्राप्य प्रसङ्ग वाली हो तो ऐसा भी बाधक प्रत्यय अनुपपत्ति के कारण नहीं है। जैसे ब्रह्मविद्यविधिश्रुति के द्वारा आत्मा में अवगत होने पर देहादिसङ्घात में अहं प्रत्यय बाधित होता है। तथा आत्मा की आत्मा में ही गति को कभी भी कोई भी बाधित नहीं कर सकता है। क्योंकि उसकी फलव्यतिरेक से युक्त गति होती है जैसे अग्नि की ऊष्णता तथा प्रकाश। पूर्वप्रवृत्ति निरोध से उत्तरोत्तर अपूर्व प्रवृत्ति जनन का प्रत्यगात्माभिमुख्य के द्वारा तथा प्रवृत्युत्पादनार्थत्व से कर्मविधि श्रुति का अप्रामाण्य भी नहीं कहा जा सकता है। मिथ्यात्व होने पर भी उपाय की उपमेय सत्यता के द्वार सत्यत्व ही होना चाहिए जैसे अर्थवाद विधि विशेषणों की, लोक में भी बलान्तमत्तादियों की पापी आदि में पापयित्व होने पर चूडावर्धानादिवचन होते हैं। प्रकारान्तर स्थानों के साक्षात्कारण से प्रामाण्य सिद्ध होता है। प्रागात्मज्ञा से देहाभिमान निमित्त प्रत्यक्षादि प्रामाण्य के समान। जैसे मानते हैं कि स्वयम् अव्यावृत्त भी आत्मा संनिधि करती है। वह ही मुख्य कर्तृत्व होता है आत्मा का। जैसा राजा युद्ध करते हुए योद्धाओं में युद्ध करते हुआ के बीच में स्वयं युद्ध नहीं करता हुआ भी संनिधि मात्र से ही जीतता है तथा पराजित होता है। सेनापति उस समय कहता है यहाँ पर क्रियाफल का सम्बन्ध राजा का तथा सेनापति का देखा गया है। जैसे ऋत्विक् का कर्म यजमान का तथा देहादि का कर्म आत्मा का होता है फल के आत्मगामित्व से। जिस प्रकार से राजा युद्ध में योद्धाओं को धन देने में तथा जय-पराजय के भोग में स्वयं ही मुख्य कर्तृत्व होता है, यजमान का भी दक्षिणादानादि में मुख्यकर्तृत्व होता है। इसलिए जो अव्यापृत का कर्तृत्वोपचार है वह गौण की समझा जाता है। इसलिए कहा जाता है कि देहादि के व्यापार से अव्यापृत आत्मा भी कर्ता तथा भोक्ता होता है। भ्रान्ति निमित्त तो सभी उपपादित होता है। न च देहाद्यात्म प्रत्यय



ध्यान दें:



ध्यान दें:



पाठ सार

साधन के तीन पाठ हैं। वहाँ पर प्रथम पाठ में साधना का सामान्य स्वरूप बताया गया है। द्वितीयपाठ में उपासना विषय साधनक बाधक युक्तियाँ तथा द्वितीय पाठ में ही उपासना तक ही विषय को सम्पूर्ण किया गया है।

इस तीसरे पाठ में अधिकारी का जो सम्बन्ध है उसका अवशिष्ट भाग ही आदि में उपस्थापित किया गया है। वह अंश ही साधनचतुष्टय है। नित्य अनित्य वस्तु विवेक यहाँ पर विवेक पदार्थ है। इहामुत्रफलभोगविराग वैराग्यपद के द्वारा वाच्य है। शम दम उपरति तितिक्षा श्रद्धा तथा समाधान यह छः सम्पत्तियाँ बताई गई हैं। मुमुक्षुत्व मोक्षेच्छा होती है। इसप्रकार से विवेक वैराग्य शमादिषट् सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व और साधन चतुष्टय को समझना चाहिए। इनका इस पाठ में क्रमशः विस्तारपूर्वक वर्णन है। तथा अधिकारी अनुबन्ध का उपसंहार दिया गया है।

उसके बाद विषयम्बन्ध तथा प्रयोजन ये तीन अनुबन्ध उपवर्णित है। इस प्रकार से वेदज्ञ निर्मल एकाग्र साधनचतुष्टय सम्पन्न ही अधिकारी बन्धन को नहीं सहता हुआ गुरु के पास विधिवत् जाता है। वहाँ पर गुरु उसको वेदान्त का श्रवण कराते है। इसके बाद श्रवण मनन तथा निदिध्यासन का अधिकारी अनुष्ठान करता है। यदि वह पूर्णयुक्त अधिकारी होता है तो उसे उसी क्षण ही ब्रह्मज्ञान हो जाता है। नहीं तो पूर्वसाधनों का फिर से अनुष्ठान करना होता है। इसलिए विविदिषा तथा विद्वत् सन्यास के भेद से सन्यास दो प्रकार का होता है।

आपने क्या सीखा

- साधन चतुष्टय के बारे में,
- विषय प्रयोजन में अनुबंधों को जाना
- अधिकारी को कब गुरु के पास जाना चाहिए जाना।
- श्रवण भजन निब्दिय निदिध्यासन को जाना,
- श्रवण तात्पर्य में लिङ्गों को जाना



पाठान्त प्रश्न

1. वेदान्त में अधिकारी के विवेकी को उपस्थापित कीजिए।
2. वेदान्त में अधिकारी के वैराग्य का प्रतिपादन कीजिए।
3. शम का परिचय दीजिए।
4. दम का विवरण दीजिए।
5. उपरित को प्रकट कीजिए।

6. श्रद्धा को स्पष्ट कीजिए।
7. समाधान क्या होता है? लिखिए।
8. मुमुक्षुत्व का वर्णन कीजिए।
9. साधनचतुष्टय में कार्यकारणभाव को बताइये।
10. वेदान्त के विषय को स्पष्ट कीजिए।
11. अनुबन्धों में सम्बन्ध को उपस्थापित कीजिए।
12. वेदान्त के प्रयोजन को बताइए।
13. गुरुपसदन को लिखिए।
14. गुरु के लक्षणों को लिखिए।
15. श्रवण का वर्णन कीजिए।
16. तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों की व्याख्या कीजिए।
17. मनन का वर्णन कीजिए।
18. निदिध्यासन को प्रकट कीजिए।
19. श्रवणादि के प्रतिबन्धक क्या क्या होते हैं तथा उनकी निवृत्ति किस प्रकार से होती है।
20. मनन में तर्क की उपयोगिता लिखिए।
21. मनन में प्रयुज्यमान उपपत्ति की क्या विशेषता है।
22. संशय तथा विपर्यय का प्रतिपादन कीजिए।



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.1

1. नित्यानित्यवस्तु विवेक से ब्रह्म ही नित्य वस्तु है उससे भिन्न सभी अनित्य है इस प्रकार विवेचन वेदान्त में अधिकारी का विवेक होता है।
2. कर्मजन्य सभी भोगों को अनित्यत्व से दृष्टानुश्रविकभोगों से हमेशा के लिए के निवृत्ति वैराग्य होता है।
3. स्वर्ग को प्राप्त करने पर भी जब पुण्यों का क्षय होता है तब जन्म ग्रहण करना चाहिए। इसलिए गीता में कहा है क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। इसलिए स्वर्गफल भी अनित्य है।



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.2

1. शम दम उपरति तितिक्षा समाधान तथा श्रद्धा ये छः षट् सम्पत्तियां हैं। साधन चतुष्टय में यह तीसरा साधन है।
2. आत्मभाव के अनुरूप सम्पत्ति जो होती है वो सम्पत्ति कहलाती है। अनुरूप अर्थ योग्य होता है। आत्मभाव स्वयं का भाव होता है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:

3. शम से तात्पर्य है श्रवणा दिव्यतिरिक्त विषयों से मन का निग्रह। मन का शम किया जाता है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन है शमादिष्टक सम्पत्ति होती है। उस सम्पत्ति में सबसे पहले शम होता है।
4. दम से तात्पर्य है बाह्येन्द्रियों को उनसे अतिरिक्त विषयों से हटाना अर्थात् बाह्येन्द्रियों का दमन करना। साधनचतुष्टय में अन्यतम साधन है शमादिष्टसम्पत्ति। उस सम्पत्ति में द्वितीय भाग दम होता है।
5. निर्वर्तित बाह्येन्द्रियों का तथा मन का श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयों से उपरण करवाना ही उपरति होती है। यह इसका एक अर्थ है तथा विहित कर्मों को विधि के द्वारा परित्याग करना यह दूसरा अर्थ है अर्थात् श्रवणादि व्यतिरिक्त विषयों से उपरति करना। साधन चतुष्टय में अन्यतमसाधन शमादिष्टक सम्पत्ति है। उस सम्पत्ति में यह तीसरी उपरति है।
6. तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता होती है। तितिक्षा के विषय में शीतोष्णादि द्वन्द्व बाह्य द्वन्द्व होते हैं। तथा मानापमानादिद्वन्द्व आभ्यन्तर द्वन्द्व होते हैं। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिष्टक सम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में चौथी तितिक्षा है।
7. गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्यों में विश्वास ही श्रद्धा है। तथा श्रद्धा का विषय ही गुरुपदिष्ट वेदान्त वाक्य है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिष्ट सम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में पञ्चमी श्रद्धा होती है।
8. निगृहीत मन का श्रवणादि में तथा तदनुगुण विषय में समाधि समाधान है। आत्म विषय में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन में उसके अनुगुणविषय गुरु शुश्रुषा आदि में अवस्थान ही समाधान होता है। साधन चतुष्टय में अन्यतम साधन शमादिष्टसम्पत्ति है तथा उस सम्पत्ति में अन्तिम समाधान है।
9. मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षा कहलाती है। संसारबन्धान् से अर्थात् सूक्ष्म अहंकार से लेकर के स्थूलदेहपर्यन्त अज्ञानकल्पित बन्धसमूहों से मुमुक्षा होती है।



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.3

1. वेदान्त के चार अनुबन्ध है। उनमें अन्यतम अनुबन्ध विषय है। वेदान्त का विषय ही जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य है शुद्धचैतन्य प्रमेय होता है। क्योंकि यह ही वहाँ पर वेदान्त का तात्पर्य होता है।
 2. वेदान्त के चार अनुबन्ध है। उनमें अन्यतम सम्बन्ध है। प्रमेय प्रमाण का सम्बन्ध तथा बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध। विषय ही प्रमेय है। बोधक प्रमाण उपनिषद् है।
 3. वेदान्त शास्त्र का प्रयोजन ही जीवब्रह्मैक्यरूपप्रमेयविषयक अज्ञान की निवृत्ति तथा स्वस्वरूपानन्दावाप्ति है। प्रयोजन की सिद्धि आत्मज्ञान के द्वारा होती है।
- | | | |
|---------|---------|---------|
| 4. (ग) | 5. (ग) | 6. (ग) |
| 7. (ग) | 8. (क) | 9. (क) |
| 10. (क) | 11. (ख) | 12. (ख) |
| 13. (ग) | 14. (ग) | 15. (ग) |

16. (क) 17. (ख) 18. (ग)
19. (क) 20. (ख)



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.4

- उक्त लक्षण लक्षित अधिकारी जनन मरणात्मक चक्र की पीछा करके तद्गतव्याधियों का विचार करके संसार नल से संतप्त होकर के गुरु के पास जाता है।
- गुरु करुणा के द्वारा विधिवत् उपासना के लिए उपदेश देता है।
- गुरु के समीप जाकर के अधिकारी श्रवणादि अन्तरङ्ग साधन करता है।
- लब्धाधिकार मुमुक्षु गुरु समीप जाकर के गुरुपदेशानुगुण ब्रह्मा का अन्वेषण करता है। शास्त्रविद् को भी स्वातन्त्र्य से नहीं करना चाहिए।
- आचार्यवान् पुरुषो वेद (छा.उ. 6.14.2) इस श्रुति के द्वारा यह समझा जाता है कि जिसका आचार्य ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म को जानता है। आचार्य के बिना मार्गदर्शन नहीं होता है।



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.5

- श्रवण से तात्पर्य है छः प्रकार के लिङ्गों का अद्वितीय वस्तु का तात्पर्याविधारण।
- तत्प्रतीतिजनन योग्यत्व ही तात्पर्य होता है
- तात्पर्य निर्णायक लिङ्ग छः है वे हैं- 1) उपक्रम तथा उपसंहार, 2) अभ्यास, 3) अपूर्वता, 4) फल, 5) अर्थवाद, 6) उपपत्ति चेति।
- प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ का प्रकरण के आदि में तथा अन्त में उपपादन उपक्रम तथा उपसंहार कहलाता है। तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों में यह छः लिङ्गों में अन्यतम होता है।
- प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उसके बीच में बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास कहलाता है। तात्पर्यनिर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
- प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ का प्रमाणान्तर के द्वारा अविषयीकरण करना अपूर्वता होती है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
- प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का तथा उसके अनुष्ठान का वहाँ श्रूयमाण प्रयोजन फल होता है। तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है ।
- प्रकरण प्रतिपाद्य की जहाँ जहाँ पर प्रशंसा होती है वह अर्थवाद होता है। तात्पर्य निर्णायक छः लिङ्गों में यह अन्यतम होता है।
- प्रकरण प्रतिपाद्यार्थ साधन में वहाँ-वहाँ श्रूयमाण युक्ति उपपत्ति होती है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों में यह अन्यतम होती है।



ध्यान दें:



ध्यान दें:

- | | | |
|---------|---------|---------|
| 10. (घ) | 11. (घ) | 12. (घ) |
| 13. (घ) | 14. (क) | 15. (क) |
| 16. (घ) | 17. (घ) | 18. (ख) |
| 19. (क) | 20. (ग) | 21. (क) |



पाठगत प्रश्नों के उत्तर 23.6

- मनन ही श्रुत अद्वितीय वस्तु की वेदान्तगुण युक्तियों के द्वारा अनवरत अनुचिन्तन होता है। यह अन्तरङ्ग साधनों का अन्तर होता है। मनन के द्वारा प्रमेयगता सम्भावना की निवृत्ति होती है।
- विजीतीयदेहादिप्रत्ययरहित अद्वितीयवस्तुसजीतीयप्रत्ययप्रवाह निदिध्यासन होता है। उसके द्वारा देहादि विपरीत भावनाओं का निवारण होता है।
- (क)
- (ख)
- (ग)
- (घ)
- (घ)